६वें जन्म-दिवस पर प्रकाशित

समाज-गौरव

चिरंजीलालजी बड़जाते

[जीवन-परिचय तथा संस्मरण]

सम्पादक

जमनालाल जैन

रतन 'पहाड़ी'

भारत जैन महामंडल, वर्धा

१२ सितम्बर, १९६०

अपनी बात

पिछले अगस्त महीने में जब मैं वर्धा गया था, तब भाई पहाड़ीजी ने कहा कि श्री चिरञ्जीलालजी ६५ वर्ष पूरे कर रहे हैं। इस अवसर पर उनका अभिनन्दन होना चाहिए। फलस्वरूप एक योजना बनी, समिति बनी और एक पुस्तिका छापने का काम मुझे सौंपा गया।

कुछ साथी सोचते थे कि चिरञ्जीलालजी को एक अच्छा 'अभिनन्दन-ग्रंथ' समर्पित करना चाहिए। लेकिन चिरञ्जीलालजी को इस विचार से बहुत बुरा लगा और श्री रिषभदासजी रांका को ऐसी विज्ञप्ति निकालने पर खूब डाँट खानी पड़ी। लेकिन ऐसी छोटी-सी पुस्तिका के लिए तो चिरञ्जीलालजी कुछ कह नहीं सकते थे।

इस पुस्तक में चिरञ्जीलालजी के जीवन-परिचय के साथ-साथ उनके लिखाये गये कुछ संस्मरण हैं। कुछ साथियों के लिखे संस्मरण भी हैं।

यह काम मेरे सिपुर्द हुआ, यह मेरा सद्भाग्य !

पुस्तक क्या है, यह तो एक श्रद्धाञ्जलि मात्र है।

हमारा मोह तो यह है कि चिरञ्जीलालजी के पास अनुभूतियों की जो पूँजी है, उसे कोई समर्थ लेखक बटोरे और वह समाज के सामने रखे। वह सचमुच साहित्य की भी अनमोल निधि होगी।

चिरञ्जीलालजी का यह सन्मान या अभिनन्दन उनका नहीं है, समाज का है और हमारा अपना है। किसीके गुण-चिंतन का इतना लाभ तो अवश्य ही मिलता है कि उन गुणों की छाप हमारे मानस पर पड़ती है। चिरञ्जीलालजी की विशेषताओं का दर्शन हमारे जीवन में भी हो, इसी उद्देश्य से यह पुस्तिका उन्हींके लाड़ले संगी-साथियों द्वारा उनके कर-कमलों में विनम्रतापूर्वक सादर समर्पित है।

राजघाट, काशी
क्षमावणी दिवस
६-९-'६०

अनुक्रम

मंगलाचरण

णमो अरिहंताणं।
णमो सिद्धाणं।
णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं।
णमो लोए सव्व साहूणं॥ १॥
एसो पंच-णमोक्कारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं॥ २॥
चत्तारि मंगलं। अरिहंता मंगलं।
सिद्धा मंगलं। साहू मंगलं।
केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं॥ ३॥
चत्तारि लोगुत्तमा। अरिहंता लोगुत्तमा।
सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा।
केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा॥ ४॥
चत्तारि सरणं पव्वज्जामि। अरिहंते सरणं पव्वज्जामि।
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि। साहू सरणं पव्वज्जामि।
केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि॥ ५॥*

---

* यह मंगलाचरण भारत जैन महामंडल के मुरार-अधिवेशन में सब सम्प्रदायों के लिए एक मंगलाचरण के रूप में स्वीकृत हुआ है। सब मंगलकार्यों, उत्सवों में इसीका पाठ होना चाहिए।

महावीर-वाणी *

१. धर्म सर्वश्रेष्ठ मंगल है। (कौनसा धर्म ?) अहिंसा, संयम और तप। जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा संलग्न रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

२. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों को तथा ऐसे ही लघुव्रतों को स्वीकार करके बुद्धिमान् मनुष्य जिन भगवंत द्वारा उपदेशित धर्म का आचरण करे।

३. जरा और मरण के वेगवाले प्रवाह में बहते हुए जीवों के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप है, प्रतिष्ठा—आश्रय है, गति है और उत्तम शरण है।

४. जो रात और दिन एक बार अतील की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य अधर्म (पाप) करता है, उसके वे रात-दिन बिलकुल निष्फल हो जाते हैं।

५. जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते हैं, वे फिर कभी वापस नहीं आते; जो मनुष्य धर्म करता है, उसके वे रात-दिन सफल हो जाते हैं।

६. हे राजन्! जब कभी इन मनोहर काम-भोगों को छोड़कर आप परलोक के यात्री बनेंगे, तब एकमात्र धर्म ही आपकी रक्षा करेगा। हे नरदेव! धर्म को छोड़कर जगत् में दूसरा कोई भी रक्षा करनेवाला नहीं है।

७. संसार में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उन सबको जाने-अनजाने न खुद मारे और न दूसरों से मरवाये।

८. सब जीवों के साथ संयमपूर्वक व्यवहार रखना तथा परस्पर के व्यवहार में समभाव से पेश आना ही निपुण तेजस्वी अहिंसा है; वह सब सुखों को देनेवाली मानी गयी है।

---

* ये वचन पंडित बेचरदासजी दोशी द्वारा संपादित 'महावीर-वाणी' पुस्तक से संकलित किये गये हैं।

९. जो मनुष्य स्वयं प्राणियों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालों का अनुमोदन करता है, वह संसार में अपने लिए वैर को ही बढ़ाता है।

१०. सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ भगवंत महावीर के अनुयायी लोग घोर प्राणि-वध का सर्वथा परित्याग करते हैं।

११. ज्ञानी होने का सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। 'अहिंसा का सिद्धांत ही सर्वोपरि है'—मात्र इतना ही विज्ञान है।

१२. संसार में प्रत्येक प्राणी के प्रति—फिर भले ही वह शत्रु हो या मित्र—समभाव रखना तथा जीवन पर्यन्त छोटी-मोटी सभी प्रकार की हिंसा का त्याग करना वास्तव में बड़ा ही दुष्कर है।

१३. सदा अप्रमादी और सावधान रहकर, असत्य को त्यागकर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिए। इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है।

१४. अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए, क्रोध से अथवा भय से—किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बुलवाये।

१५. श्रेष्ठ मनुष्य पापकारी, भयकारी और दूसरों को दुःख पहुँचानेवाली वाणी न बोले। श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्य में भी पापकारी वाणी न बोले। हँसते हुए भी पाप-वचन नहीं बोलना चाहिए।

१६. आत्मार्थी साधक को दृष्ट (सत्य), परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट, अनुभूत, वाचालतारहित और किसीको भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलनी चाहिए।

१७. भाषा के गुण तथा दोषों को भलीभाँति समझकर दूषित भाषा को सदा के लिए छोड़ देनेवाला तथा साधुत्व-पालन में सदा तत्पर बुद्धिमान् साधक एकमात्र हितकारी मधुर भाषा बोले।

१८. विचारवान् मुनिजन को या गृहस्थ को वचन-शुद्धि का भलीभाँति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदा के लिए छोड़ देनी चाहिए और खूब सोच-विचारकर

बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोलना चाहिए। इस तरह बोलने से सत्पुरुषों में महान् प्रशंसा प्राप्त होती है।

१६. काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, फिर भी ऐसा नहीं कहना चाहिए।

२०. जो मनुष्य भूल से भी मूलतः असत्य किन्तु ऊपर से सत्य मालूम होने-वाली भाषा बोल उठता है, वह भी पाप से अछूता नहीं रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या?

२१. जो भाषा कठोर हो, दूसरों को दुःख पहुँचानेवाली हो—वह सत्य ही क्यों न हो—नहीं बोलनी चाहिए। क्योंकि उससे पाप का आगमन होता है।

२२. सचेतन पदार्थ हो या अचेतन, अल्प-मूल्य पदार्थ हो या बहुमूल्य; और तो क्या, दाँत कुरेदने की सींक भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो, उसकी आज्ञा लिये बिना पूर्ण संयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते हैं और न ग्रहण करनेवालों का अनुमोदन ही करते हैं।

२३. काम याने रूप और शब्द का तथा भोग याने स्पर्श, रस और गंध का अर्थात् काम और भोगों का रस जान लेनेवाले के लिए अब्रह्मचर्य से विरक्त होना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारण करना बड़ा ही कठिन कार्य है।

२४. जो उत्तम मनुष्य संयम-घातक दोषों से दूर रहते हैं, वे लोक में रहते हुए भी दुःसेव्य, प्रमाद स्वरूप और भयंकर अब्रह्मचर्य का कभी सेवन नहीं करते।

२५. आत्म-शोधक मनुष्य के लिए शरीर का शृङ्गार, पुरुषों के लिए स्त्रियों का संसर्ग तथा स्त्रियों के लिए पुरुषों का संसर्ग और पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन—सब, तालपुट विष के समान महान् भयंकर है।

२६. ब्रह्मचर्य-रत साधक को शीघ्र ही वासना-वर्धक पुष्टिकारी भोजन-पान का सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए।

२७. ब्रह्मचर्य-रत स्थिरचित्त साधक को संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए ही हमेशा धर्मानुकूल विधि से प्राप्त परिमित भोजन करना चाहिए। कैसी भी भूख क्यों न लगी हो, लालसावश अधिक मात्रा में कभी भी भोजन नहीं करना चाहिए।

२८. स्थिरचित्त ब्रह्मचारी साधक दुर्जय काम-भोगों को हमेशा के लिए

छोड़ दे। इतना ही नहीं, जिनसे ब्रह्मचर्य में तनिक भी क्षति पहुँचने की संभावना हो, उन सब शंका-स्थानों का भी उसे परित्याग कर देना चाहिए।

२६. प्राणिमात्र के संरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नहीं बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का—आसक्ति का रखना बतलाया है।

३०. परिग्रह से विरक्त साधक जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे सब एकमात्र संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं।

३१. ज्ञानी पुरुष संयम-साधक उपकरणों के लेने और रखने में कहीं भी किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं रखते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नहीं रखते।

३२. संग्रह करने की वृत्ति होना या थोड़ा-सा भी संग्रह करना; यह अन्दर रहनेवाले लोभ की झलक है। अतएव जो साधक मर्यादा-विरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है—साधक नहीं है।

३३. जो पदार्थ चैतन्ययुक्त हैं, जैसे मनुष्य, पशु-पक्षी आदि, उनका थोड़ा-सा भी परिग्रह रखना अर्थात् चैतन्ययुक्त प्राणी पर हिंसाजनक स्वामित्व की वृत्ति रखना तथा जो पदार्थ चैतन्यरहित हैं, जैसे मकान, खेत, बाग-बगीचा, धन, असबाब, गहना आदि, उनका थोड़ा-सा भी परिग्रह रखना अर्थात् उन पर हिंसाजनक अपना स्वामित्व स्थापित करना और किसी भी द्वारा ऐसे स्वामित्व को रखवाना अनुचित है।

३४. जमीन पर कहीं पानी पड़ा होता है, कहीं बीज बिखरे होते हैं और कहीं पर सूक्ष्म कीड़े-मकोड़े आदि होते हैं। दिन में तो उन्हें देख-भालकर बचाया जा सकता है, परन्तु रात्रि में उनको बचाकर भोजन कैसे किया जा सकता है?

३५. अन्न आदि चारों ही प्रकार के आहार का रात्रि में सेवन नहीं करना चाहिए। इतना ही नहीं, दूसरे दिन के लिए भी रात्रि में खाद्य-सामग्री का संग्रह करना निषिद्ध है। अतः अरात्रिभोजन वास्तव में बड़ा दुष्कर है।

३६. इन पाँच कारणों से मनुष्य सच्ची शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता :
अभिमान से, क्रोध से, प्रमाद से, कुष्ठ आदि रोग से और आलस्य से।

३७-३८. इन आठ कारणों से मनुष्य शिक्षाशील कहलाता है :

हर समय हँसनेवाला न हो, इंद्रिय-निग्रही हो, मर्मभेदी वचन न बोलता हो, अस्थिराचारी न हो, रसलोलुप न हो, सत्य में रत हो, क्रोधी न हो—शांत हो।

३९. जो गुरु की आज्ञा पालता है, उनके पास-उनकी निगरानी में रहता है, उनके इंगितों तथा आकारों को जानता है, वही शिष्य विनीत कहलाता है।

४०-४१. जो बार-बार क्रोध करता है, जिसका क्रोध शीघ्र ही शान्त नहीं होता, जो मित्रता रखनेवालों का भी तिरस्कार करता है, जो शास्त्र पढ़कर गर्व करता है, जो दूसरों के दोषों को ही उखाड़ता रहता है, जो अपने मित्रों पर भी क्रुद्ध हो जाता है, जो अपने प्यारे-से-प्यारे मित्र की भी पीठ-पीछे बुराई करता है, जो मनमाना बोल उठता है—बकवादी है, जो स्नेही-जनों के साथ भी द्रोह करता है, जो अहंकारी है, लोभी है, इन्द्रियनिग्रही नहीं है, सबको अप्रिय है, वह अविनीत कहलाता है।

४२. जो शिष्य अभिमान, क्रोध, मद या प्रमाद के कारण गुरु की विनय-भक्ति नहीं करता, वह अभूति अर्थात् पतन को प्राप्त होता है। जैसे बाँस का फल बाँस के ही नाश के लिए होता है, उसी प्रकार अविनीत का ज्ञान-बल भी उसीका सर्वनाश करता है।

४३. संसार में जीवों को इन चार श्रेष्ठ अङ्गों (जीवन-विकास के साधन) का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है : मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ।

४४. जो प्राणी काम-वासनाओं से विमूढ़ हैं, वे भयंकर दुःख तथा वेदना भोगते हुए चिरकाल तक मनुष्येतर योनियों में भटकते रहते हैं।

४५. सद्धर्म का श्रवण और उस पर श्रद्धा—दोनों प्राप्त कर लेने पर भी उनके अनुसार पुरुषार्थ करना तो और कठिन है। क्योंकि संसार में बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो सद्धर्म पर दृढ़ विश्वास रखते हुए भी उसे आचरण में नहीं लाते।

४६. जो मनुष्य निष्कपट एवं सरल होता है, उसीकी आत्मा शुद्ध होती है। और जिसकी आत्मा शुद्ध होती है, उसीके पास धर्म ठहर सकता है। घी से सींची हुई अग्नि जिस प्रकार पूर्ण प्रकाश को पाती है, उसी प्रकार सरल और शुद्ध साधक ही पूर्ण निर्वाण को प्राप्त होता है।

४७. जीवन असंस्कृत है—अर्थात् एक बार टूट जाने के बाद फिर नहीं जुड़ता, अतः एक क्षण प्रमाद न करो।

४८. संसारी मनुष्य अपने प्रिय कुटुम्बियों के लिए बुरे-से-बुरे पाप-कर्म कर डालता है, पर जब उनके दुष्फल भोगने का समय आता है, तब अकेला ही दुःख भोगता है, कोई भी भाई-बन्धु उसका दुःख बँटानेवाला—सहायता पहुँचानेवाला नहीं होता।

४९. संसार में जो कुछ धन, जन आदि पदार्थ हैं, उन सबको पाशरूप जानकर मुमुक्षु बड़ी सावधानी के साथ फूँक-फूँककर पाँव रखे। जब तक शरीर सशक्त है, तब तक उसका उपयोग अधिक-से-अधिक संयम-धर्म की साधना के लिए कर लेना चाहिए। बाद में जब वह बिलकुल ही अशक्त हो जाय, तब बिना किसी मोह-ममता के मिट्टी के ढेले के समान उसका त्याग कर देना चाहिए।

५०. आत्म-विवेक झटपट प्राप्त नहीं हो जाता—इसके लिए तो भारी साधना की आवश्यकता है। महर्षि जनों को बहुत पहले से ही संयम-पथ पर दृढ़ता के साथ खड़े होकर, काम-भोगों का परित्याग कर, समतापूर्वक संसार की वास्तविकता को समझकर, अपनी आत्मा की पापों से रक्षा करते हुए सर्वदा अप्रमादी रूप से विचरना चाहिए।

५१. जो मनुष्य संस्कारहीन हैं, तुच्छ हैं, निन्दा करनेवाले हैं, राग-द्वेष से युक्त हैं, वे सब अधर्माचरणवाले हैं। इस प्रकार विचारपूर्वक दुर्गुणों से घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-नाश पर्यन्त एकमात्र सद्गुणों की ही कामना करता रहे।

५२. जैसे ओस की बूँद कुशा की नोक पर थोड़ी देर तक ही ठहरी रहती है, उसी तरह मनुष्यों का जीवन भी बहुत अल्प है—शीघ्र ही नाश हो जानेवाला है। इसलिए हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

५३. अनेक प्रकार के विघ्नों से युक्त अत्यन्त अल्प आयुवाले इस मानव-जीवन में पूर्वसंचित कर्मों की धूल को पूरी तरह झटक दे। इसलिए हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

५४. दीर्घकाल के बाद भी प्राणियों को मनुष्य-जन्म का मिलना बड़ा दुर्लभ है, क्योंकि कृतकर्मों के विपाक अत्यन्त प्रगाढ़ होते हैं। हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

७४. चाँदी और सोने के कैलास के समान विशाल असंख्य पर्वत भी लोभी मनुष्य की तृप्ति के लिए पर्याप्त नहीं। तृष्णा आकाश के समान अनन्त है।

७५. चावल और जौ आदि धान्यों तथा सुवर्ण और पशुओं से परिपूर्ण यह समस्त पृथिवी भी लोभी मनुष्य को तृप्त कर सकने में असमर्थ है, यह जानकर संयम का ही आचरण करना चाहिए।

७६. गीत सब विलापरूप है, नाट्य सब विडम्बनारूप है, आभरण सब भार-रूप हैं। अधिक क्या? संसार के जो भी काम-भोग हैं, सब-के-सब दुःखावह हैं।

७७. जो मनुष्य भोगी है—भोगासक्त है, वही कर्म-मल से लिप्त होता है; अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में परिभ्रमण किया करता है और अभोगी संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

७८. मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, संघाटिका (बौद्ध भिक्षुओं का-सा उत्तरीय वस्त्र) और मुण्डन आदि कोई भी धर्मचिह्न दुःशील भिक्षु की रक्षा नहीं कर सकते।

७९. काल बड़ी द्रुत गति से चला जा रहा है, जीवन की एक-एक करके सभी रात्रियाँ बीतती जा रही हैं, फलस्वरूप काम-भोग चिरस्थायी नहीं हैं। भोग-विलास के साधनों से रहित पुरुष को भोग वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे क्षीण-फल वृक्ष को पक्षी।

८०. मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालों को अपना शरण मानता है और समझता है कि 'ये मेरे हैं' और 'मैं उनका हूँ'। परन्तु इनमें से कोई भी आपत्तिकाल में त्राण तथा शरन का देनेवाला नहीं।

८१. जिस तरह सिंह हिरण को पकड़कर ले जाता है, उसी तरह अंत समय में मृत्यु भी मनुष्य को उठा ले जाती है। उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी उसके दुःख में भागीदार नहीं होते—परलोक में उसके साथ नहीं जाते।

८२. जो मनुष्य काम-भोगों में आसक्त हैं, वे बुरे-से-बुरे पाप-कर्म कर डालते हैं। ऐसे लोगों की मान्यता होती है कि "परलोक हमने देखा नहीं है और यह विद्यमान काम-भोगों का आनन्द तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है"।

८३. "मैं तो सामान्य लोगों के साथ रहूँगा—अर्थात् जैसी उनकी दशा होगी, वैसी मेरी भी हो जायगी"—मूर्ख मनुष्य इस प्रकार धृष्टताभरी बातें किया करते हैं और काम-भोगों की आसक्ति के कारण अन्त में महान् क्लेश पाते हैं।

८४. मूर्ख मनुष्य हिंसक, असत्यभाषी, मायावी, चुगलखोर और धूर्त होता है। वह मांस तथा मद्य के खाने-पीने में ही अपना श्रेय समझता है।

८५. जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को पाकर उससे विविध प्रकार से पीठ फेर लेता है, सब प्रकार से स्वाधीन भोगों का परित्याग कर देता है, वही सच्चा त्यागी कहलाता है।

८६. जो मनुष्य किसी परतन्त्रता के कारण वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और शयन आदि का उपयोग नहीं कर पाता, वह सच्चा त्यागी नहीं कहलाता।

८७. जैसे कछुआ आपत्ति से बचने के लिए अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पंडितजन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को आध्यात्मिक ज्ञान से सिकोड़कर रखें।

८८. जो मनुष्य प्रतिमास लाखों गायें दान में देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी न देनेवाले का संयमाचरण श्रेष्ठ है।

८९. सद्गुरु तथा अनुभवी वृद्धों की सेवा, मूर्खों के संसर्ग से दूर रहना, एकाग्र चित्त से सत् शास्त्रों का अभ्यास और उनके गम्भीर अर्थ का चिन्तन करना और चित्त में धृतिरूप अटल शान्ति टिकाये रखना, यह निःश्रेयस का मार्ग है।

९०. जो वीर दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को जीतता है, यदि वह एक-मात्र अपनी आत्मा को जीत ले, तो यह उसकी सर्वश्रेष्ठ विजय है।

९१. अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए, बाहरी स्थूल शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतनेवाला ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

९२. पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ तथा सबसे अधिक दुर्जय अपनी आत्मा को जीतना चाहिए। एक आत्मा को जीत लेने पर सब कुछ जीत लिया जा सकता है।

९३. सिर काटनेवाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता, जितना दुराचरण में लगी हुई अपनी आत्मा करती है। दयाशून्य दुराचारी को अपने दुराचरणों का पहले ध्यान नहीं आता; परन्तु जब वह मृत्यु के मुख में पहुँचता है, तब अपने सब दुराचरणों को याद कर-करके पछताता है।

९४. जिस साधक की आत्मा इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो कि "मैं शरीर छोड़ सकता हूँ, परन्तु अपना धर्म-शासन नहीं छोड़ सकता", उसे इन्द्रियाँ कभी विचलित नहीं कर सकतीं, जैसे भीषण बवंडर सुमेरु पर्वत को।

९५. शरीर को नाव कहा है, जीव को नाविक कहा है और संसार को समुद्र बतलाया है। इसी संसार-समुद्र को महर्षि जन पार करते हैं।

९६. जो परोक्ष में किसीकी निन्दा नहीं करता, प्रत्यक्ष में भी कलहवर्द्धक बातें नहीं बकता, पीड़ा पहुँचानेवाली एवं भयकारी भाषा भी नहीं बोलता, वही पूज्य है।

९७. गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु, अतः हे मुमुक्षु! सद्गुणों को ग्रहण कर और दुर्गुणों को छोड़। जो साधक अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर राग और द्वेष दोनों में समभाव रखता है, वही पूज्य है।

९८. जिस प्रकार कमल जल में उत्पन्न होकर भी जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो संसार में रहकर भी काम-भोगों से सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

९९. सिर मुँड़ा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' 'ओम्' का जाप कर लेने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, निर्जन वन में रहने से कोई मुनि नहीं होता और न कुशा के बने वस्त्र पहन लेने से कोई तपस्वी ही हो सकता है।

१००. समता से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, मनन से—ज्ञान से—मुनि होता है और तप से तपस्वी बना जाता है।

१०१. मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और शूद्र भी अपने कृतकर्मों से ही होता है। (अर्थात् वर्णभेद जन्म से नहीं होता। जो जैसा अच्छा या बुरा कार्य करता है, वह वैसा ही ऊँचा या नीचा हो जाता है।)

१०२. जो दूसरों को 'यह दुराचारी है' ऐसा नहीं कहता, जो कटु वचन—जिससे सुननेवाला क्षुब्ध हो—नहीं बोलता, 'सब जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख भोगते हैं'—ऐसा जानकर जो दूसरों की निन्दा—

चेष्टाओं पर लक्ष्य न देकर अपने सुधार की चिंता करता है, जो अपने-आपको उग्र तप और त्याग आदि के गर्व से उद्धत नहीं बनाता, वही भिक्षु है।

१०३. भन्ते ! कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोये ? कैसे भोजन करे ? कैसे बोले ?—जिससे पापकर्म का बन्धन न हो।

१०४. आयुष्मान् ! विवेक से चले, विवेक से खड़ा हो, विवेक से बैठे, विवेक से सोये, विवेक से भोजन करे और विवेक से ही बोले, तो पाप-कर्म का बंधन नहीं हो सकता।

१०५. प्रथम ज्ञान है, पीछे दया। इसी क्रम पर समग्र त्यागी वर्ग अपनी संयम-यात्रा के लिए ठहरा हुआ है। भला अज्ञानी मनुष्य क्या करेगा ? श्रेय तथा पाप को वह कैसे जान सकेगा ?

१०६. मैं समस्त जीवों से क्षमा माँगता हूँ और सब जीव मुझे भी क्षमा-दान दें। सब जीवों के साथ मेरी मैत्री-वृत्ति है, किसीके साथ मेरा वैर नहीं है।

भारत जैन महामण्डल

[संक्षिप्त परिचय]

सन् १८८५ में देश में राष्ट्रीय और सामाजिक जाग्रति की शुरुआत हुई। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस की स्थापना भी इसी समय हुई। इसके बाद तो अनेक धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक संस्थाएँ कार्य-क्षेत्र में उतरीं। जैन-समाज भी इससे अछूता न रह सका। सन् १८९५ में दिगम्बर जैन महासभा की स्थापना हुई। महासभा के चार-पाँच अधिवेशनों के बाद कुछ विचारवान् लोगों को महसूस हुआ कि साम्प्रदायिक घेरे में रहकर विचार को व्यापक स्वरूप नहीं दिया जा सकता। अतः सन् १८९९ में उन लोगों ने महासभा से पृथक् 'जैन यंग मैन्स एसोसिएशन' की स्थापना की।

जैन यंग मैन्स एसोसिएशन का पहला अधिवेशन रायबहादुर लाला सुलतान-सिंहजी रईस, दिल्ली के सभापतित्व में हुआ। श्री बाबूलालजी वकील, मुरादाबाद और श्री सुलतानसिंहजी वकील, मेरठ इसके प्रथम मंत्री थे। प्रकाशित वक्तव्य में कहा गया था :

"जाति या आम्नाय (=सम्प्रदाय, पंथ) का भेदभाव गौण करके जैन मात्र में पारस्परिक सम्बन्ध का प्रचार करना एसोसिएशन का उद्देश्य है।"

धीरे-धीरे इस यंग मैन्स एसोसिएशन में बुजुर्ग लोग भी सम्मिलित होने लगे। अतः दस वर्षों बाद जयपुर के अधिवेशन में इसका नाम 'ऑल इण्डिया जैन एसोसिएशन' अथवा 'भारत जैन महामण्डल' कर दिया गया।

महामण्डल की स्थापना में बाबू सूरजमलजी वकील हरदा, बाबू बच्चूलालजी इलाहाबाद, बाबू देवकुमारजी रईस आरा, ज्योतिपरत्न चिरंजीलालजी फर्रुखनगर आदि विचारवान् युवकों का बहुत बड़ा हाथ रहा। बाद में रा० ब० बैरिस्टर जुगमंदरलालजी, बाबू अजितप्रसादजी लखनऊ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी,

वाडीलाल मोतीलाल शाह जैसे क्रांतिकारी विचारकों के संचालन में महामंडल अपनी विचारधारा समाज में फैलाता रहा। मल्हीपुर निवासी मास्टर चेतनदासजी जैन इस महामंडल के सन् १९३७ तक मंत्री रहे। आपने अपार उत्साह और स्नेह से मंडल की सेवा की है।

इसकी स्थापना करनेवाले चाहते थे कि जैनों के सब संप्रदायों में एकता और भाईचारा बढ़े तथा सम्प्रदाय-मोह के कारण होनेवाले आपसी झगड़ों का अन्त हो। गण्यमान्य नेताओं, कार्यकर्ताओं और विचारकों ने त्याग, लगन तथा सेवाओं द्वारा इस मंडल को एकता और प्रेमभाव बढ़ानेवाली संस्था बनाने का भरसक प्रयत्न किया। बीच के काल में मंडल की कोई आवाज नहीं रह गयी थी। इसके अनेक कारण थे। अंग्रेज सरकार का लाभ 'फूट डालो और राज्य करो' नीति फैलाने में था। समाज के व्यापारी और रईस प्रायः अंग्रेजों के समर्थक थे। परम्परागत साम्प्रदायिक संस्कारों का आवेश भी उभरता रहता था। छोटे-से या साम्प्रदायिक दायरे में जो प्रतिष्ठा या कीर्ति उपलब्ध हो सकती है, वह विशाल और व्यापक क्षेत्र में सम्भव नहीं होती। शिक्षा का विकास भी उस काल में समुचित नहीं हो पाया था। शिक्षण भी विदेशियों के हाथों में था। हमारे आपसी झगड़ों से उनकी आमदनी बढ़ती थी। ये और ऐसे ही सब कारण थे कि किसीको सांप्रदायिक दायरे से निकलने का अवसर नहीं मिलता था। फिर भी महामंडल के विचारशील कार्यकर्ता निराश नहीं हुए और उनके हाथों में यह किसी-न-किसी तरह जीवित रह सका। वे जानते थे कि समय आने पर आपसी झगड़े और मतभेद दूर होंगे और प्रत्येक व्यक्ति को अंत में प्रेम और भाईचारे की ओर ही जाना होगा।

सन् १९३७ के बाद महामंडल का कार्यालय वर्धा आ गया। वर्धा में इसका संचालन श्री चिरंजीलालजी बड़जाते अपनी शक्ति, बुद्धि और भावना से करते रहे। चिरंजीलालजी बड़जाते बहुत आशावान् और दूरदर्शी व्यक्ति हैं। उन्हें समाज का मुक्त सहयोग तो नहीं मिला, लेकिन वे जानते थे कि एक दिन इस संस्था की उपयोगिता समाज स्वयं महसूस करेगा। ये इस बात का बराबर ध्यान रखते रहे कि संस्था का पौधा मुरझा न जाय, अनुकूल प्रकाश और आबहवा मिलने पर तो वह अपने-आप पनपने लगेगा। वे नये-नये कार्यकर्ताओं को भी

इसके प्रति आकृष्ट करते रहे। आज भी चिरंजीलालजी इस संस्था के मन-प्राण हैं। श्री सुगनचंद्रजी लुणावत व श्री फकीरचंद्रजी जैन ने भी लगन के साथ सहयोग दिया और वर्षों तक मंत्रित्व का भार सँभाला। श्री राजमलजी ललवानी कार्याध्यक्ष रहे, बाद में श्री ताराचंद्रजी कोठारी भी कार्याध्यक्ष रहे। आजकल सेठ लालचंदजी दोशी, बंबई, कार्याध्यक्ष हैं।

सन् १९४७ में हमारा देश आजाद हुआ। कांग्रेस और गांधीजी की तपस्या सफल हुई। अंग्रेज यहाँ से चले गये। देश की परिस्थिति बदली। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन हुआ। लोगों को महसूस हुआ कि अहिंसा में अनन्त शक्ति है। महामंडल भी कांग्रेस की तरह भाईचारे की नीति पर चल रहा था। महामंडल में सांप्रदायिक मान्यताओं पर जोर देनेवाले और चलनेवाले लोग अवश्य रहे, किन्तु वे यह भी समझते थे कि अपनी मान्यताओं का पालन करना एक बात है और अपने से भिन्न सम्प्रदाय या मान्यता की निंदा-आलोचना करना एकदम दूसरी।

सन् १९४७ के आसपास श्री रिषभदासजी रांका ने मंडल के कार्यों में दिलचस्पी लेना शुरू किया। उन्होंने महामंडल के मुखपत्र **जैन जगत्** मासिक का संपादन अपने जिम्मे लिया। मद्रास-अधिवेशन के वे सभापति बने। उनके कारण महामंडल में नवीन चेतना निर्माण हुई। अनेक नयी प्रवृत्तियाँ शुरू हुईं। विभिन्न संप्रदायों की प्रमुख संस्थाओं तथा नेताओं से सम्पर्क बढ़ा। समाज के सन्त-मुनियों ने भी इस ओर ध्यान दिया। महामंडल की ओर से प्रवास भी किया। प्रकाशन-कार्य शुरू किया गया। ग्रंथमालाएँ स्थापित की गयीं। जो काम पिछले ५० वर्षों में नहीं हो सका, वह इन ५-७ वर्षों में हुआ। समाज और देश के विचारकों तथा लेखकों का हार्दिक सहयोग मिला। जैन जगत् के संपादन तथा ग्रंथमालाओं के काम में शुरू से ही श्री जमनालालजी जैन का सहयोग रहा।

महामंडल के विचारों को समाज में फैलाने में साहूबंधुओं का आत्मीय सहयोग सदा ही मिला है। उन्होंने केवल आर्थिक ही नहीं, सक्रिय सहायता भी पहुँचायी है। आज महामंडल का जो कुछ स्वरूप दिखाई देता है, उसमें साहूबंधुओं का सहयोग स्पष्ट है।

अब तक महामंडल के कुल ३६ अधिवेशन हो चुके हैं। इन अधिवेशनों में समाज को उन्नति, सुधार और भाईचारे की तरफ मोड़नेवाले विधायक और निषेधक प्रस्ताव भी होते रहे हैं। संस्थाओं के अधिवेशनों में प्रायः प्रस्ताव पास करने की परम्परा रही है। लोग समझते हैं कि प्रस्ताव पास कर देने मात्र से उनका और संस्था का कर्तव्य पूरा हो जाता है। प्रस्तावों से कार्य हो या न हो, वातावरण में वैसी हवा तो बनती ही है। प्रस्ताव विचार-प्रवाह के प्रतीक होते हैं। इस दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि महामंडल की ओर से जैसे प्रस्ताव हुए हैं, वे समाज को एकता, अभेद और भाईचारे की ओर ले जाने के लिए अनुकूल वातावरण बना सकते हैं। अभी-अभी जनवरी '६० में महामंडल का हीरक-जयंती समारोह तथा ३६वाँ अधिवेशन साहू शांतिप्रसादजी के सभापतित्व में बंबई में हुआ।

इस समय हमारे देश के सामने चहुँमुखी निर्माण की अनेक योजनाएँ हैं। विज्ञान इतनी तेज गति से बढ़ता जा रहा है कि अब कोई भी राष्ट्र या कोई भी व्यक्ति अपने को अलग नहीं रख सकता। पहले जो काम पचास वर्षों में होता था, वह अब एक दिन में हो जाता है। देशों की दूरियाँ मिटती जा रही हैं। धर्म, जाति, भाषा और पंथ के भेद अब टिकनेवाले नहीं हैं। जिस युग में आज का मानव साँस ले रहा है, वह विज्ञान का युग है, चन्द्रलोक के ऊपर छलाँग मारने का युग है। इस युग में 'मैं-मेरा' नहीं चल सकता। जैन-समाज को भी अब विशाल दृष्टि से अपने भविष्य के बारे में सोचना होगा। विचार के नये-नये स्रोत उसके सामने आ गये हैं। अब विश्व-मानव ही हमें बनना होगा। एक समाज का हित विश्व-हित में ही है। जैन-समाज को इस बात का अब गहराई से विचार करना है कि उसके पास अहिंसा की और अनेकांत की जो अमूल्य विरासत है, उसका इस युग में किस प्रकार प्रयोग किया जाय। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि इस विज्ञान-युग में या तो हिंसा की ही विजय होगी या अहिंसा की ही। हमारे पास अहिंसा की जो निधि है, उसका सूक्ष्म अन्वेषण तथा प्रयोग करके साबित करना होगा कि विश्व की रक्षा अब अहिंसा की शक्ति से ही संभव है। लेकिन इसके अमल की जिम्मेवारी सबसे पहले हम पर ही आती है।

इस समय महामंडल की ओर से 'जैन जगत्' मासिक निकलता है। इसका संपादन श्री रिषभदासजी रांका करते हैं और श्री कनकमलजी सूनोत, पूना प्रकाशक हैं। जैन जगत् की नीति शुरू से ही व्यापक रही है।

देश के अनेक प्रांतों में महामंडल की शाखाएँ भी हैं। बंबई, वर्धा, दिल्ली तथा भेलसा में शाखाएँ हैं।

इस समय महामंडल के मंत्री श्री सोहनलालजी कोठारी बंबई तथा श्री सौभाग्यमलजी जैन शुजालपुर हैं।

श्री चिरंजीलालजी बड़जाते

जीवन-परिचय

[जमनालाल जैन]

राजस्थान के जयपुर जिले में उग्रास गाँव है। वहाँ दिगम्बर जैन धर्मावलंबी खंडेलवाल जाति के बड़जात्या गोत्र का एक अच्छा परिवार था। चिरंजीलालजी बड़जाते उसी परिवार के हैं।

चिरंजीलालजी के पिता चार भाई थे: गौरीलालजी, मोहरीलालजी, गणेशीलालजी और विजयलालजी। मोहरीलालजी अपने काका रामलालजी के दत्तक चले गये थे। आपके दो पुत्र और एक पुत्री हुई। एक चिरंजीलालजी और दूसरे कुन्दनमलजी। पुत्री का नाम रतनबाई था।

बचपन और पढ़ाई

चिरंजीलालजी का जन्म आश्विन वदी ८ वि० संवत् १९५२ को हुआ। गाँव का वातावरण और लगभग ६० वर्ष पहले की स्थिति! चिरंजीलालजी को ७ वर्ष की उम्र में मोजमाबाद मामा के यहाँ पढ़ने के लिए भेज दिया गया। मौलवी साहब से उर्दू तथा जोशीजी से गिनती और बारहखड़ी सीखते रहे! उस जमाने में अच्छे अक्षर लिखना और पहाड़े याद कर लेना कामकाज के लिए काफी माना जाता था। जोशीजी को महीने में एक सेर आटा दिया जाता था! मौलवी साहब को भी विशेष कुछ नहीं दिया जाता था।

रोज सवेरे नहा-धोकर मंदिर जाने का रिवाज आज भी कायम है। आजकल शहरों में रहनेवाले तथा अधिक पढ़े-लिखे लोग मंदिर आदि नहीं जाते या इस प्रकार की प्रवृत्ति को विशेष महत्त्व नहीं देते, लेकिन उस जमाने में मंदिर जाना, देवदर्शन करना एक महत्त्व की बात थी। उसमें समाज का संगठन भी था। शास्त्र-सभा, पूजा-अर्चा, व्रत-नियम रखने के सामूहिक उपक्रम होते थे। छोटे-छोटे बालक भी बड़े उत्साह और भक्ति से मंदिर जाते थे। अनेक पद-विनतियाँ और स्तोत्र उन्हें अपने-आप कंठस्थ हो जाते थे। व्रत-उपवास का अभ्यास भी होता

था। चिरंजीलालजी रोज मंदिर जाते थे। दशलक्षण व्रत के दिनों में व्रत रखते थे।

कुछ ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो गयीं कि चिरंजीलालजी अपने मामा के यहाँ नहीं रह सके। नानाजी का स्वर्गवास भी हो गया था। अतः वे अपनी माँ के साथ द्रुग (म० प्र०) आ गये।

पहली नौकरी

आपके पिता श्री मोहरीलालजी द्रुग में नौकरी करते थे। पढ़ाई का अध्याय तो मोजमाबाद में ही समाप्त हो गया था। अब तो चिरंजीलालजी को भी काम-धंधे में जुतना था। पिताजी ने श्री बागमल जुगराज नामक फर्म में इनको रख दिया। उनसे इनको कुछ व्यावहारिक ज्ञान मिला। कुछ समय बाद चिरंजीलालजी को भाटापारा के श्री हीरालालजी भट्टड़ के यहाँ रख दिया। हीरालालजी चिरंजीलालजी पर खूब प्यार करते थे, खूब सिखाते थे। यहाँ तक कि जब चिरंजीलालजी भोजन करते, तभी वे भोजन करते। लेकिन वे पीटते भी खूब थे। मन से वे पीटना नहीं चाहते थे, लेकिन पीटना उनका स्वभाव बन गया था। जरा-जरा-सी बात पर पीट देते थे।

एक बार की बात है कि भाटापारा में गुरु गोपालदासजी बरैया आये हुए थे। उनका व्याख्यान होनेवाला था। वे व्याख्यान में जाना चाहते थे। हीरालालजी ने कहा कि जाना हो, तो रोकड़ मिलाकर जाओ! रोकड़ मिलाने लगे, तो सौ रुपये घटने लगे। चिरंजीलालजी चिन्तित तो हुए, लेकिन व्याख्यान में जाने की धुन इतनी सवार थी कि हीरालालजी से कह दिया—रोकड़ मिल गयी और व्याख्यान में चल दिये। व्याख्यान से लौटने पर सौ रुपये की चिन्ता सवार हो गयी। उन दिनों सौ रुपये बहुत बड़ी बात थी। बहुत सोचने पर भी इनके ध्यान में नहीं आया कि सौ रुपये कहाँ गये, किसको दिये। आखिर अनेक प्रकार के डर से भयभीत होकर इन्होंने तय किया कि कुएँ में गिर पड़ना चाहिए। वे कुएँ पर चले भी गये। संयोग से कुआँ पुलिस-चौकी के पास था। पुलिसवाला चिरंजीलालजी को पहचानता था। उसने इनको खूब डाँटा। इन्होंने टट्टी लगने का बहाना कर दिया। वापस लौट आये।

सवेरा हुआ। सेठ हीरालालजी ने स्वयं रोकड़ मिलायी। चिरंजीलालजी ने सौ रुपये की बात कह दी। इतने में पड़ोस का दूकानदार सौ रुपये लेकर आ रहा था। उसको देकर वे भूल गये थे। अब रोकड़ मिल गयी। अब पुलिसवाला भी आ गया। उसने सेठ से रात की बात कह दी। इस पर सेठ ने खूब पीटा। सारी बात सच-सच बता दी, तो और पीटा।

बाद में जब गोपालदासजी बरैया रायपुर गये, तब चिरंजीलालजी भी सेठजी को चाभी सौंपकर रायपुर चले गये। बरैयाजी के साथ उन दिनों ब्र० मोती-लालजी रहते थे। उनका वैराग्य पर बड़ा अच्छा भाषण हुआ। इनकी इच्छा भी ब्रह्मचारी बनने की हो गयी। उन दिनों चिरंजीलालजी के पिता भागलपुर रहते थे। उनके मित्र ने तार करके उनको बुलाया। इनकी माँ द्रुग में थी। पिताजी आये और फुसला-मनाकर बेटे को द्रुग ले गये। वहाँ माँ की ममता में ब्रह्मचारी बनना भूल गये। द्रुग में चिरंजीलालजी सेठ जुहारमल छोगालाल के यहाँ नौकरी करने लगे।

दत्तक जाने की घटना

द्रुग अनाज की अच्छी मंडी थी। वर्धा-हिंगणघाट के लोग अनाज खरीदने द्रुग की तरफ जाया करते थे। एक बार एक विवाह में हिंगणघाट के सेठ निहालचंदजी दोशी द्रुग गये। उन्होंने चिरंजीलालजी को देखा। उन दिनों चिरंजीलालजी पर तरुणाई का तेज था। बहुत सुंदर दीखते थे। गला भी मधुर था। निहालचंदजी ने इनसे कहा कि "वर्धा में सेठ पन्नालालजी का स्वर्गवास हो गया है, बड़जाते गोत्र के लड़के की जरूरत है। क्या तुम गोद जाओगे?"

चिरंजीलालजी ने इनकार कर दिया। कहा कि "गोद तो नहीं जाऊँगा, अगर अच्छी नौकरी मिलती हो, तो जरूर जाऊँगा।"

निहालचन्दजी ने अपने पिता श्री चाँदमलजी से जिक्र किया। हिंगणघाट में ही स्व० पन्नालालजी के बहनोई हरकचन्दजी दोशी रहते थे। आखिर वर्धा-हिंगणघाट वालों के सलाह-मशविरे से पन्नालालजी के मुनीम द्रुग आये और चिरंजीलालजी को वर्धा ले गये। उस समय चिरंजीलालजी के पिता राजस्थान में थे। चिरंजीलालजी नौकरी के आश्वासन पर वर्धा चले गये।

चिरंजीलालजी बताते हैं कि उनकी गाड़ी शाम को ५ बजे वर्धा पहुँची। स्टेशन पर दिगम्बर जैन बोर्डिङ्ग हाउस के १५ विद्यार्थी स्वागत के लिए उपस्थित थे। बोर्डिङ्ग के सेक्रेटरी श्री जयचन्द्रजी श्रावणे फूल-माला लिये हुए थे। उन्होंने चिरंजीलालजी को माला पहनायी। यह सब देखकर चिरंजीलालजी तो अवाक् और स्तब्ध रह गये। उनके लिए यह एकदम नयी और अनोखी बात थी।

स्टेशन से चिरंजीलालजी घर गये। घर पर दो विधवा महिलाएँ थीं। दोनों को चिरंजीलालजी ने प्रणाम किया। दोनों ने उनको आशीर्वाद दिया। मीठा भात का भोजन बना था। उस समय चिरंजीलालजी की उम्र १५ वर्ष थी। दोनों महिलाओं में एक स्व० जेठमलजी की पत्नी थीं और दूसरी स्व० पन्नालालजी की। रात को दिगंबर जैन मंदिर में शास्त्रसभा हुई। शास्त्रसभा के अन्त में चिरंजीलालजी ने एक भजन गाया। समाज के लोग बहुत खुश हुए। रात को चिरंजीलालजी बड़ी माँ यानी स्व० जेठमलजी की पत्नी के पास सोये। बड़ी माँ की गोद में सोकर चिरंजीलालजी को ऐसी अनुभूति हुई कि उनकी जननी यही हैं और वे स्वर्ग में आ गये हैं। कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि अब उन्होंने तय कर लिया कि वे नौकरी करें या दत्तक आयें, यहीं रहेंगे।

वर्धा की दूकान

वर्धा में सेठ कुन्दनमल चंपालाल नाम की बड़ी प्रसिद्ध और सम्पन्न फर्म थी। कपड़े का कारोबार था। कुन्दनमलजी और चंपालालजी भाई थे। इनके एक भाई मन्नालालजी और थे। मन्नालालजी अलग हो गये थे। कुन्दनमलजी और चंपालालजी मिलकर काम करते थे। कुन्दनमलजी के पुत्र जेठमलजी थे और चंपालालजी के पुत्र थे पन्नालालजी। जब चिरंजीलालजी वर्धा आये, तब जेठमलजी और पन्नालालजी दोनों भाइयों का स्वर्गवास हो चुका था। जेठमलजी के स्वर्गवास के बाद छोटे भाई पन्नालालजी ने बड़ी शालीनता और बुद्धिमानी से घर तथा दूकान को सँभाला। अपनी भौजाई की श्रद्धा और आदरपूर्वक सार-सँभाल की। बड़े सफल और कुशल व्यापारी थे। उदार तथा प्रभावशाली थे। आन के पक्के थे। लाखों रुपये कमाये थे। दिगंबर जैन मंदिर में नीचे एक वेदी बनवायी। प्रतिष्ठा करायी। खंडेलवाल पंचायत के लिए एक हजार रु० के

बर्तन मँगा दिये। जैन बोर्डिङ्ग में २१०१) दिये। सरावगियों के मुकुट थे। अपने स्वर्गवास के समय वे एक मृत्युपत्र लिख गये और अपनी जायदाद तथा कारोबार की देखरेख के लिए सेठ जमनालालजी बजाज, चैनसुखजी छावड़ा, कृष्णरावजी काणे आदि को ट्रस्टी नियुक्त कर गये। यह भी लिखा कि एक लड़का भौजाई के नाम पर और एक मेरे नाम पर दत्तक लिया जाय। दोनों यानी जिठानी-देवरानी राजी हों, तो एक ही लड़का लिया जा सकता है। दोनों ने एक-एक लड़का लेना ठीक समझा।

दूकान पर चिरंजीलालजी को बहीखाते का काम दिया गया। उन्हें बहीखाता आता ही था। सेठ जमनालालजी के दर्शन के लिए उनको मुनीमलोग ले गये। चिरंजीलालजी ने विनयपूर्वक प्रणाम किया। बातचीत हुई। जमनालालजी ने कुछ जानकारी पूछी। लिखवाया भी। बहुत खुश हुए। सेठजी ने चिरंजीलालजी के पिता को तार देकर बुलाया। गोद देने की शर्तें तय हुईं। चिरंजीलालजी के पिताजी की मुख्य शर्त यह थी कि चिरंजीलालजी की जो सगाई मोजमाबाद में हो गयी है, वह कायम रहे और वहीं शादी हो। सेठ जमनालालजी तथा चिरंजीलालजी की माँ के अलावा सब कुटुंबीजन चाहते थे कि यह शर्त न रखी जाय। आखिर चिरंजीलालजी के पिताजी का आग्रह देखकर वही सगाई कायम रही।

सूरजमलजी दत्तक आये

अब चिरंजीलालजी की काकीजी की इच्छा थी कि उनके लिए भी लड़का दत्तक लाया जाय। अतः बुलढाना के श्री दलसुखजी बडजाते के पुत्र श्री सूरजमलजी को पन्नालालजी के नाम दत्तक लाया गया।

दोनों दत्तकविधान शानदार हुए। उत्सव में बड़े-बड़े धनी, अफसर, नेता शरीक हुए।

विवाह

चिरंजीलालजी का विवाह मोजमाबाद में श्री सूवालालजी गोधा की कन्या प्रमिलादेवी के साथ हुआ। बरात वर्धा से गयी। करीब १०० बराती थे। पाँच रोज बरात रुकी। मोजमाबाद में लगभग पाँच सौ रिश्तेदार शरीक हुए।

२८ कनस्तर घी खर्च हुआ। अंतिम दिन घी कम पड़ गया। चिरंजीलालजी यह घटना बड़े मजे से सुनाते हैं कि घी खतम होने पर उनके रिश्ते के भाई गुलाबचंदजी घी का पात्र उठाकर पंक्ति में 'घी लो, घी लो' कहते हुए बढ़ जाते थे, पर परोसते किसी-किसीको ही थे। घी की व्यवस्था तत्काल करना कठिन था। बरातियों के आग्रह से मुनीमों ने रंडियों का नाच भी करवाया था। सेठ जमनालालजी को जब मालूम हुआ, तो उन्होंने काफी उलहना दिया। बरात मेजवानी और स्वागत पाते-पाते १५ रोज में वर्धा लौटी। इस फजूलखर्चों पर जमनालालजी बहुत नाराज हुए।

पत्नी की पढ़ाई

उस जमाने में जब लड़कों की ही पढ़ाई नहीं होती थी, तब लड़कियों की पढ़ाई की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। चिरंजीलालजी की पत्नी अपढ़ थी, रहन-सहन का ढंग भी नहीं था। बाद में चिरंजीलालजी की काकीजी और उनकी पत्नी में कुछ अनबन भी रहने लगी। चिरंजीलालजी के मन में भी असंतोष था ही। उन्होंने जमनालालजी बजाज के सामने सारी परिस्थिति और अपनी व्यथा रखी। उसी अर्से में स्व० माणिकचन्दजी जे० पी० बंबई की पुत्री मगनबाई वर्धा आयी थीं। जमनालालजी का उनसे परिचय था ही। उन्होंने चिरंजीलालजी की माँ को समझाया कि बहू को बंबई मगनबाई के पास पढ़ने के लिए भेज दो। लेकिन वे इनकार हो गयीं। लेकिन जमनालालजी ने चतुराई से चिरंजीलालजी की पत्नी को बंबई भेज दिया। लेकिन जैसे ही उनकी माँ को यह बात मालूम हुई, खूब क्लेश हुआ। बहू दो महीने भी बंबई नहीं रह पायी कि मुनीम को भेजकर बहू को बुला लिया। बंबई जाने से रहन-सहन में थोड़ा सुधार हुआ। चिरंजीलालजी कहते हैं कि साड़ी पहनने का तरीका भी आया। वे यह बात आज भले ही विनोद में कहते हैं, लेकिन ५० वर्ष पहले तो यह दर्द ही रहा होगा। वर्धा में ही एक शिक्षिका रखकर पढ़ाने का प्रबंध किया गया। धीरे-धीरे सामाजिक वातावरण में रहने और सुधारों के असर के कारण चिरंजीलालजी के विचारों के अनुकूल अपने को ढालने में उनकी पत्नी पीछे नहीं रहीं!

बँटवारा

चिरंजीलालजी और सूरजमलजी लगभग बारह बरस तक एक साथ रहे, कारोबार संयुक्त चलता रहा। चिरंजीलालजी का झुकाव धीरे-धीरे सार्वजनिक कार्यों, देशभक्ति तथा समाज-सुधार की ओर होने लगा। सेठ जमनालालजी बजाज के संपर्क के कारण यह प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगी। नेताओं, सुधारकों तथा देशभक्तों से घनिष्ठता बढ़ने लगी। इससे खर्च बढ़ने लगा। भाइयों में खिंचाव-तनाव बढ़ने लगा। अनबन जैसी परिस्थिति हो गयी। ऐसी शंका भी होने लगी कि कहीं मामला कोर्ट-कचहरी तक न चला जाय। इस मामले में श्री चैनसुखदासजी छावड़ा का बड़ा उपकार मानना चाहिए कि उन्होंने प्रयत्न करके आपस में मामला निपटा दिया। पाँच पंच मुकर्रर हुए, जिनमें जमनालालजी, जाजूजी, श्री मनोहर पंत देशपांडे, काणे साहब आदि थे।

नुकसान और नौकरी

सार्वजनिक तथा राष्ट्रीय प्रवृत्तियों में भाग लेने के कारण चिरंजीलालजी दूकान की तरफ ध्यान नहीं दे सके और हालत यह हो गयी कि दूकान ठप हो गयी। लोगों की तरफ लगभग सवा लाख रुपया लेना था, वह डूब गया और इतना ही कर्ज सिर पर चढ़ गया। लेनी रकम के लिए किसी पर नालिश नहीं की जा सकी। जमनालालजी को सारी परिस्थिति समझायी गयी। उन्हें काफी दुःख हुआ। कुटुंबियों ने चिरंजीलालजी को सलाह दी कि वे दिवालिया बन जायँ, लेकिन जमनालालजी ने ऐसा करने से रोका। उन्होंने सारी जायदाद बिकवाकर और अपने पास से २५ हजार रुपये कर्ज देकर लोगों की पाई-पाई चुकायी। ये रुपये आगे चलकर चिरंजीलालजी ने चुका दिये।

ऐसी स्थिति में नौकरी के सिवा कोई चारा नहीं था। चिरंजीलालजी पढ़े-लिखे नहीं थे, सम्पन्न घर में आये थे, राजसी ठाट में रहे थे और दुनिया का दूसरा यानी अभावग्रस्त पहलू नहीं देखा था। मालिक रहे हुए व्यक्ति के लिए नौकरी करना कितना मुश्किल होता है, इसे भुक्तभोगी ही जान सकता है! लेकिन परिस्थिति के आगे आदमी विवश होता है। यह तो चिरंजीलालजी का परम भाग्य था कि इन्हें सेठ जमनालालजी बजाज जैसे आदर्श पुरुष का संपर्क

सधा, उनकी सहानुभूति और आत्मीयता मिली। सन् १९२७ में नौकरी स्वीकार की और जमनालालजी का जो पल्ला पकड़ा सो अब तक उनका रोम-रोम जमनालालजी के उपकारों से प्लावित है। ३० वर्ष तक उनके यहाँ नौकरी की, लेकिन जमनालालजी ने भी इनकी शान को निबाहा, आदर दिया। चिरंजीलालजी ने भी जमनालालजी के चरणों में अपने को संपूर्ण रूप से, हर क्षण के लिए समर्पित कर दिया। कभी उन्होंने अपनी वेतनवृद्धि के लिए नहीं कहा, कभी मदद के लिए नहीं कहा, कभी पुत्रों की छात्रवृत्ति के लिए नहीं कहा! जब भी चिरंजीलालजी को किसी तरह की आवश्यकता हुई, वह अपने-आप पूरी होती चली गयी। चिरंजीलालजी को स्वयं को आश्चर्य होता है कि जमनालालजी ने उनमें ऐसी क्या बात देखी कि एक नाचीज को इतना बढ़ावा दिया! जमनालालजी वस्तुतः जीवनपारखी जौहरी थे।

चिरंजीलालजी जीवन में लगभग १५ कंपनियों के डाइरेक्टर, सेक्रेटरी, चेअरमैन आदि रहे, बड़े-बड़े मुकदमों में काम किया। देशभक्तों, व्यापारियों, त्यागियों से संबंध आया।

सामाजिक क्षेत्र में

समाज-सेवा का बीज चिरंजीलालजी में बचपन से ही था। वह बीज जानदार था। हम देख चुके हैं कि १०-१२ वर्ष की उम्र में ही वे रोकड़ मिलाना छोड़कर गुरु गोपालदासजी के भाषण में दौड़ पड़े थे। फिर ब्रह्मचारी होना चाहते थे। समाज-सेवा के क्षेत्र में आने में सेठ जमनालालजी के संपर्क ने सिंचन का काम किया। उन्हींकी प्रेरणा से चिरंजीलालजी सन् १९२३ में झंडा-सत्याग्रह में तथा १९३० में जंगल-सत्याग्रह में जेल गये। हौसला बढ़ता गया, कदम आगे बढ़ते गये। जीवन में ऐसे ही निमित्त मिलते गये कि जिनके कारण चिरंजीलालजी समाज-सेवा की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होते गये।

पं० उदयलालजी काशलीवाल की मित्रता

पं० उदयलालजी बंबई रहते थे। उन्होंने चिरंजीलालजी का नाम सुन रखा था। पढ़े-लिखे भावनाशील व्यक्ति थे। उन्होंने एक पत्र चिरंजीलालजी को लिखा कि दुनिया में मेरा कोई नहीं है—न भाई, न पिता, न माता। आप मेरे

भाई बन जायँ। पत्र का चिरंजीलालजी पर कुछ ऐसा असर हुआ कि उन्होंने तुरंत लिख दिया कि मैं आपका भाई हूँ। दोनों में से किसीने एक-दूसरे को देखा नहीं, जाना नहीं, फिर भी कुछ ऐसी आंतरिक प्रेरणा हुई कि भाई बन गये।

इस अर्से में महात्मा भगवानदीन जी, अर्जुनलालजी सेठी से संपर्क बढ़ा। महात्माजी और सेठीजी वर्धा आये। हमेशा उनके संपर्क में रहने के कारण चिरंजीलालजी समाज-सेवा और राजनीति की तरफ झुकते गये, हिम्मत बढ़ती गयी। एक जैन पोलिटिकल कान्फरेंस भी वर्धा में हुई। वह अपने ढंग की अनूठी थी।

जाति-बहिष्कार का मामला

चिरंजीलालजी का मन तो खूब उछलता था, लेकिन उनकी माँ पुराने विचारों की थीं। चैनसुखदासजी छावड़ा, जो एक ट्रस्टी थे, स्थितिपालक थे। वे सरल और सेवाभावी तो थे, लेकिन चिरंजीलालजी उनसे बहुत डरते थे। इस कारण आगे बढ़ नहीं पाते थे। इसी बीच एक ऐसी घटना हो गयी कि उसने चिरंजीलालजी को बागी बना दिया।

वर्धा में महात्मा गांधीजी को मानपत्र देने का विचार हुआ। मानपत्र म्युनिसिपल मेंबर की हैसियत से देना था। गांधीजी ने शर्त रखी कि वे मानपत्र तब स्वीकार करेंगे, जब वर्धा के सब कुएँ हरिजनों के लिए खोल दिये जायँ। म्युनिसिपल कमेटी ने उनकी यह शर्त मंजूर कर ली और ७० कुएँ हरिजनों के लिए खुले कर दिये। इसका एक समारोह जमनालालजी बजाज के बगीचे में हुआ। वहाँ हरिजन भाई आये और उन्होंने कुएँ से पानी निकाला। चिरंजीलालजी ने भी अपने हाथ से पानी खींचकर पीया। चिरंजीलालजी के इस कार्य को समाज में 'अपराध' माना गया। पंचायत बैठी और एक महीने तक चलती रही। सिवनी से चैनसुखदासजी छावड़ा को बुलाया गया। पंचायत ने फैसला सुनाया कि चिरंजीलालजी रामटेक की यात्रा करें, शांतिनाथ भगवान् की पूजा करें, ११) भंडार में चढ़ायें और आगे से ऐसे कामों में भाग न लें। अगर चिरंजीलालजी को यह बात मंजूर हो, तो उनसे संबंध रखा जाय, नहीं तो उनके साथ खान-पान बंद कर दिया जाय।

समाज के लोगों ने चिरंजीलालजी के साथ खानपान बन्द कर दिया। इतना ही नहीं, जो लोग बाहर से आते थे, उनको भी रोकते थे और कहते थे कि ढेड़ (महार) के यहाँ मत जाइये। (महाराष्ट्र में 'ढेड़' नामक एक अछूत या नीच जाति होती है। उसीका नाम लेकर चिरंजीलालजी को उस कोटि का बताया जाता था। एक प्रकार से यह गाली ही थी।)

चिरंजीलालजी पूरी तरह सुधारक तो बने नहीं थे, समाज और जाति का मोह भी उनमें था ही। बल्कि कहना चाहिए, डर भी था। अगर वे चुप रह जाते, तो भी कुछ नहीं था। उन्होंने नागपुर प्रांतीय खंडेलवाल सभा में अपील कर दी। उन दिनों इस सभा का संगठन देखने लायक था। सभा ने चिरंजीलालजी को निर्दोष सिद्ध कर दिया। इस पर भी वर्धा के लोगों ने जिद नहीं छोड़ी। उनकी माँ पर व्यंग्य कसते और जब वे मंदिर जातीं, तो बहकाते भी। उनको भी लोग ढेड़नी कहते! अब वर्धा के पंचों ने चिरंजीलालजी के विरुद्ध खंडेलवाल महासभा में अपील की। यह अखिल भारतीय संगठन था। सभा का अधिवेशन मोजमाबाद में था। चिरंजीलालजी का भी वहाँ एक व्याख्यान हुआ। वहाँ २५ हजार जैनी एकत्र हुए थे। उन सबमें एक चिरंजीलालजी ही खादीधारी तथा मूँछ-रहित थे। लोग चिरंजीलालजी को देखते और इशारा करते, यह आया है रांडों का विवाह करानेवाला! जब चिरंजीलालजी मन्दिर गये, तब कुछ लड़के दरवाजे पर गाना गा रहे थे। गाने की पंक्ति इस प्रकार थी:

'वर्धा के भ्रष्टाचारी ने रांडों का व्याह रचाया है।'

असल में चिरंजीलालजी उस समय तक विधवा-विवाह के प्रचारक या समर्थक भी नहीं थे, लेकिन लोगों ने जबरदस्ती बना ही दिया। कभी-कभी ऐसी घटनाएँ भी बड़ी काम की साबित हो जाती हैं। बुराई में से भलाई निकलना इसीको कहते हैं। उनमें अपने-आप हिम्मत आ गयी।

खंडेलवाल महासभा ने चिरंजीलालजी के मामले के लिए एक कमेटी बैठायी। कमेटी ने फैसला सुनाया कि चिरंजीलालजी मन्दिर में एक नारियल चढ़ा दें। चिरंजीलालजी ने फैसले को अस्वीकार कर दिया और यह बात समाचार-पत्रों में प्रकट कर दी। यों एक नारियल की कोई कीमत नहीं थी और

मंदिर में नारियल तो हमेशा चढ़ता ही था। लेकिन सजा के रूप में नारियल चढ़ाना उन्हें स्वीकार नहीं था।

माँ की व्यथा

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चिरंजीलालजी की माँ पुराने विचारों की धर्मपरायण सात्त्विक महिला थीं। चिरंजीलालजी के सुधारप्रिय विचारों से तथा समाज के असहयोग और व्यंगों से वे सदा दुःखी रहती थीं। एक बार वर्धा में ऐलक पन्नालालजी महाराज का चातुर्मास हुआ। वे हमेशा दोपहर को शास्त्र-प्रवचन करते थे। चिरंजीलालजी भी उसमें जाते थे। वे हमेशा ताना मारते रहते कि सुधारक लोग अपनी माँ का व्याह क्यों नहीं करते! वे नाम तो नहीं लेते थे, लेकिन इशारा चिरंजीलालजी की ओर ही रहता। ऐसी स्थिति में एक भावनाशील धर्मभीरु माँ के दिल को कितनी चोट पहुँच सकती है, इसकी कल्पना की जा सकती है! चिरंजीलालजी कहते हैं कि जब वे सोने गये, तो उनकी माँ खूब रोयीं! अंत में तो चिरंजीलालजी ने भी चतुराई और सेवा से ऐलक महाराज को खुश कर लिया और वे भी ऐसी बातें करना भूल गये।

माँ के दुःखी हृदय को समाधान देने के लिए सेठ जमनालालजी ने श्री लक्ष्मीनारायण मंदिर में संत एकनाथ, ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि के संबंध में व्याख्यान कराये, नाटक भी कराये। इनका चिरंजीलालजी की माँ पर काफी असर हुआ। जानकीदेवी बजाज भी उनको समझाती रहती थीं। इससे चिरंजीलालजी की माँ में हिम्मत आयी।

समाज-सुधार की दिशा में

आज तो हम १९६० में जी रहे हैं। देश स्वतंत्र हो गया है। दुनिया के और देशों के साथ हमारे सम्बन्ध बढ़ गये हैं, बढ़ते जा रहे हैं। देशों ही नहीं, चन्द्रलोक की दूरी भी क्षण-क्षण पर कम होती जा रही है। कानून भी हमारा साथ दे रहे हैं। लेकिन कल्पना कीजिये, चालीस-पचास वर्ष पहले की! वह ऐसा समय था, जब लोग अपनी जाति को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे और ऐसा नियम लेने में गर्व का अनुभव करते थे कि वे और किसी जाति के हाथ का नहीं खायेंगे। खंडेलवाल जैनी सैतवाल जैनी के हाथ का भोजन नहीं करते थे। क्या जमाना था वह!

एक तरफ तो मानवता की ऊँची-ऊँची बातें होती थीं, अध्यात्म की दुहाई दी जाती थी और दूसरी ओर व्यवहार में जाति और परम्परा का इतना प्राबल्य था कि मानवता काँप उठती थी। क्रांतदर्शी वही होता है, जो युग के आगे की, बुनियाद की सोचता है। चिरंजीलालजी क्रांतदर्शी तो नहीं थे, किन्तु इतना पहचान गये थे कि युग का निर्माण करनेवाले ही सही मार्ग पर हैं। युग के प्रवाह में तो जनता बहती ही है। संयोग ऐसे मिलते गये कि चिरंजीलालजी सुधारकों के संपर्क में आते गये।

वर्धा के पास देवली नाम एक कसबे का स्थान है। वहाँ पर श्री रुखबसावजी मेघल नामक सज्जन रहते थे। बड़े परोपकारी और धर्मनिष्ठ थे। उन्होंने देवली में एक जैन मेला भराया। उसमें उन्होंने घोषित कर दिया कि सब जैन एक हैं और सैतवाल जाति की बहनों को चौके में प्रवेश करने दिया जाय। धीरे-धीरे पद्मावती परवार, बन्नोरे, बघेरवाल और गंगेरवाल जातियों में रोटी-बेटी व्यवहार शुरू हो गया। सैतवालों में भी ऐसे संबंध होने लगे। वर्धा में पहला अंतर-जातीय विवाह श्री आर० पी० काले ने किया। बाद में तो आपने विधवा-विवाह ही किया। इस तरह अंतरजातीय विवाह का प्रचार बढ़ता गया। चिरंजीलालजी के भाई गुलाबचन्दजी बड़जाते (सूरजमलजी के भाई) ने अपना विवाह सैतवाल समाज में किया। उस विवाह को लेकर समाज में पंचायत बैठी थी। लेकिन कोई खास परिणाम नहीं निकला। फिर तो समाज में सैकड़ों विवाह होने लगे। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार होने लगा, गांधीजी की बातों का असर होने लगा, लोगों की हिम्मत खुलने लगी। और अब तो अंतरजातीय ही नहीं, अंतरप्रांतीय ही नहीं, अंतरदेशीय विवाह तक होने लगे हैं। इसमें शक नहीं कि अब इन मामलों में समाज मानवतावादी होता जा रहा है।

पर्दा-प्रथा के विषय में चिरंजीलालजी पर जमनालालजी और जानकीदेवीजी का बहुत असर रहा। सेठजी के यहाँ देशभर से अनेक विदुषी और कार्यकर्त्री बहनें आती रहती थीं। उनको देखकर चिरञ्जीलालजी के विचार पर्दाप्रथा के खिलाफ बनते गये। उन्होंने अपने घर में परदा हटाने का प्रयत्न किया, लेकिन शुरू में सफलता नहीं मिली। उनकी माँ के स्वर्गवास के बाद चिरञ्जीलालजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री प्रताप-

चन्द्र का विवाह कोटा के श्री मोतीलालजी पहाड्या की पुत्री सौ० रतनप्रभादेवी के साथ हुआ। विवाह में पर्दा नहीं रखा गया। सत्यभक्तजी ने अपनी पद्धति से सप्तपदी करायी। दहेज बिलकुल नहीं लिया। मजे की बात यह थी कि बहू खुले मुँह रहती थी और उसकी सास लंबा पर्दा रखती थी। दोनों सास-बहू जब मंदिर जातीं, तो जाति की बहनें सास की तो तारीफ करतीं और बहू को चिढ़ातीं ! यहाँ तक कहा जाता कि यह बहू है या बेटी ! प्रतापचन्द की माँ को इससे बड़ी तकलीफ होती थी।

लेकिन एक रोज चिरञ्जीलालजी की पत्नी का पर्दा अपने-आप खुल गया। घटना यह हुई कि एक दिन श्रद्धेय डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी तथा अन्य कुछ लोगों को भोजन का निमंत्रण चिरञ्जीलालजी ने दिया। जानकीदेवी भी निमंत्रण में थीं। उन्होंने सब अतिथियों से कहा कि इनके यहाँ कोई भोजन मत करो, क्योंकि चिरञ्जीलालजी की पत्नी पर्दा करती है। अब तो परिस्थिति ही बदल गयी। जानकी देवी उठीं और चट से पर्दा सरका दिया। उस दिन से चिरञ्जीलालजी के घर में पर्दा समाप्त हो गया।

इसी तरह जब चिरञ्जीलालजी की माँ का स्वर्गवास हुआ, तब कुटुंबियों ने मोसर करने पर काफी जोर और दबाव डाला; लेकिन चिरञ्जीलालजी ने मोसर नहीं किया।

तीनों पुत्रों के विवाह में चिरञ्जीलालजी ने दहेज भी नहीं लिया। दहेज-प्रथा को वे शुरू से बुरा मानते रहे हैं और सैकड़ों शादियाँ जो करायीं वे भी बड़ी मितव्ययता से करायीं।

वेदी प्रतिष्ठा और परिषद् का अधिवेशन

एक बार चिरञ्जीलालजी की माँ बहुत बीमार हो गयीं। उन्होंने संकल्प किया कि अगर स्वस्थ हो गयी, तो जैन-मंदिर में एक गुम्बद बनवाऊँगी। चिरंजीलालजी पहले तो टालते रहे और माँ से 'हाँ' 'हाँ' भी कहते रहे। लेकिन जब चिरञ्जीलालजी ने समझ लिया कि अब अपना कारोबार कमजोर होता जा रहा है और न जाने कब क्या परिस्थिति हो जायगी, तब उन्होंने मंदिर में ऊपर की ओर एक वेदी बनवायी और उस पर गुम्बद बनवायी। वेदी-प्रतिष्ठा करायी। नागपुर के पं० रामभाऊजी शास्त्री

प्रतिष्ठाचार्य थे। इसी अवसर पर भारत दिगम्बर जैन परिषद् का दूसरा अधिवेशन भी वर्धा में हुआ। अधिवेशन के सभापति अकोला के प्रसिद्ध वकील जयकुमारजी देवीदासजी चवरे थे। श्री दौलतरामजी खजानची स्वागताध्यक्ष थे। यह अधिवेशन भी अपने ढंग का अनूठा था। बाहर से बैरि० चंपतरायजी, बाबू रतनलालजी वकील बिजनौर, ताराचन्दजी नवलचन्दजी जवेरी बम्बई, वालचन्दजी कोठारी पूना, अजितप्रसादजी लखनऊ आदि अनेक विद्वान्, वकील नेता आये थे। प्रतिष्ठा आदि में कुल १० हजार रुपये खर्च हुए।

स्वागत आदि के प्रमुख सेठ जमनालालजी बजाज थे। अन्तिम दिन लगभग दो हजार लोगों का मिष्टान्न भोजन बच्छराज-भवन की विशाल छत पर हुआ। यह सारा उत्सव और व्यवस्था देखकर चिरञ्जीलालजी की माँ को परम संतोष हुआ।

सिंघई पन्नालालजी की मैत्री

सिं० पन्नालालजी अमरावती के रहनेवाले थे। आप चिरंजीलालजी के अनन्य मित्रों तथा हितैषियों में थे। यों भी कहा जा सकता है कि जब चिरंजीलालजी धर्म के प्रति विद्रोही होने लगे, तब आप ही ने उन्हें विचलित होने से बचाया। इस संबंध में एक घटना का उल्लेख करना जरूरी है।

एक बार वर्धा में आचार्य शांतिसागर महाराज का मुनि-संघ आया। उस संघ में आठ-नौ मुनि तथा अनेक त्यागी, ब्रह्मचारी थे। उनमें मुनि चन्द्रसागरजी भी थे। चन्द्रसागरजी अपनी गृहस्थावस्था में चिरंजीलालजी के मित्र भी रह चुके थे। वे नाँदगाँव (नासिक) के रहनेवाले थे। वर्धा भी आ चुके थे। चिरञ्जीलालजी भी नाँदगाँव गये थे। इस समय वे मुनि थे। जब वे आहार के लिए निकलते थे, तब चिरञ्जीलालजी तथा उनकी माँ अपने घर के सामने पड़गाहने के लिए खड़े रहते थे। वे दो-एक चक्कर भी उनके घर तक लगाते थे। उनका आग्रह था कि जो शूद्र-जल का त्याग करेंगे, उन्हींके यहाँ आहार करेंगे। उनके साथ जो भक्त लोग रहते थे, वे गृहस्थों से ऐसा नियम लिवाते थे। चिरञ्जीलालजी ऐसा नियम लेना नहीं चाहते थे। उनकी माँ अवश्य कहती थीं कि मैं नियम लेने को राजी हूँ, मैं आहार दूँगी। लेकिन भक्त लोग कहते थे कि चिरञ्जीलालजी नियम लेंगे, तब ही आहार होगा। आखिर उनके यहाँ आहार नहीं हुआ।

इसी बीच एक और ऐसी घटना हो गयीं, जिसने आग में घी का काम किया। एक भाई ने एक परचा छपवाकर बाँटा, जिसमें लिखा था कि आचार्य शांतिसागरजी अमुक जाति के हैं और उस जाति में विधवा-विवाह प्रचलित है, तब वे उन लोगों के घर आहार क्यों नहीं ग्रहण करते, जिनके यहाँ विधवा-विवाह हुए हैं। वह परचा आचार्य महाराज के सामने जलाया गया। काफी उत्तेजना फैली।

जब संघ ने वर्धा से प्रस्थान किया, तब चिरञ्जीलालजी भी पवनार तक गये। वहाँ से लौटते समय उन्होंने चन्द्रसागरजी को वन्दन किया। उनका चरण-स्पर्श किया। इससे मुनिजी भड़क उठे और कहा कि 'ऐ पापी, हाथ मत लगा!' इससे चिरञ्जीलालजी को काफी आघात लगा। एक तो मुनि और फिर इतनी कटुता! धर्म तो पतितों के उद्धार के लिए है। इस समय चिरञ्जीलालजी एकदम विचलित हो उठे और धर्म को छोड़ देने की सोच बैठे!

बस, इसी समय डूबते को तिनके का सहारा मिल गया—पन्नालालजी सिंघई ने उबार लिया। अपने स्नेह और मधुर व्यवहार से सिंघईजी ने चिरंजीलालजी को समझाया। यों उनका आपसी सम्पर्क सन् '१७ से ही था। वे पुराने विचार के थे, परन्तु सुधारकों से काफी प्रेम रखते थे। जब चिरञ्जीलालजी सन् '२३ और '३० में जेल गये, तब भी वे बीच-बीच में वर्धा आकर चिरञ्जीलालजी के कारोबार को देखते रहते थे।

एक समय चिरञ्जीलालजी निमोनिया या टाइफाइड से बीमार पड़ गये। पन्नालालजी को लगा कि इस बीमारी में काफी खर्च हो गया होगा। उन्होंने किसीसे बिना कुछ कहे-सुने तकिये में तीन सौ रुपये के नोट रख दिये और स्टेशन चले गये। चिरञ्जीलालजी की माँ की नजर तकिये पर गयी और लगा कि इसमें नोट जैसा कुछ है। निकालकर देखा। माँ को यह निश्चय करने में देर नहीं लगी कि हो न हो यह नोट पन्नालालजी ने ही छोड़े हैं। उनको स्टेशन से बुलाया गया और किसी तरह समझा-बुझाकर नोट वापस किये गये!

कलकत्ता में वीरशासन-जयन्ती उत्सव पर पन्नालालजी गये थे। वहाँ रात को चिरञ्जीलालजी और सिंघईजी एक ही कमरे में सोये! बातों-बातों में सिंघईजी बोल पड़े, 'चिरञ्जीलाल, मुझे अपनी मृत्यु नजदीक दीखती है, पता नहीं कब

चल बसूँ। तुमसे इतना ही अनुरोध है कि जैनधर्म को कभी मत भूलना। उसीसे तेरा कल्याण होगा।' क्या मालूम था कि वे घर भी नहीं लौट पायेंगे! उनका आरा में स्वर्गवास हो गया!!

दौलतरामजी खजानची

दौलतरामजी खजानची का जिक्र किये बिना नहीं रहा जाता। वर्धा के जैन समाज के इतिहास में उनका स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा है। समाज उनकी सद्-भावना के लिए सदा ऋणी रहेगा।

खजानचीजी रायबहादुर बंसीलाल अबीरचन्द के खजानची थे। खजाने में बैठते थे। उन दिनों बैंक नहीं थे। खजाने का काम बंसीलाल अबीरचंद के मार्फत चलता था। यह फर्म बहुत धनी थी। खजानचीजी समाज के भले के लिए हमेशा सोचते रहते थे। कुछ धर्म-भाइयों को कारोबार के लिए रकमें भी देते रहते थे। इसमें कुछ रकम फँस गयी। एक ओवरसियर की कुछ रकम बंसीलाल अबीरचंद के यहाँ जमा थी। उसने बंसीलाल अबीरचन्द पर मुकदमा कर दिया। बंसीलाल अबीरचन्द के एक मुनीम खजानचीजी को कामठी ले गये। वहाँ उनको धमकाया, पीटा और उनकी सारी जायदाद बिक्री करा ली। यह बिक्री बोगस (गैर-कानूनी) थी। जब चिरंजीलालजी को मालूम हुआ कि ऐसी पोकल बिक्री हुई है, तो उन्होंने खजानचीजी से कहा कि मैं इसे रद्द करवा सकता हूँ। लेकिन खजानचीजी सा० सरल और सात्त्विक वृत्ति के थे। उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया। रुपया तो उनका लगभग २० हजार ही फँसा था। लेकिन जायदाद लगभग ४० हजार की चली गयी। खजानची सा० ने जैन मन्दिर के लिए जैन बोर्डिंग के पीछे की एक जमीन भी साढ़े चार हजार में ली थी। समाज के पंचों ने उनको आश्वासन दिया था कि यह रकम चंदा करके दे दी जायगी, लेकिन पूरी रकम नहीं ही दी गयी। जैन भाइयों ने भी उनकी देनी रकम नहीं लौटायी। कामठी से लौटकर उन्होंने एक बैलगाड़ी ४५) में चिरञ्जीलालजी को दे दी और वर्धा छोड़कर चले गये। बाद में पता ही नहीं चला कि उनका स्वर्गवास कैसे हुआ।

लेखक ने भी उनको बचपन में देखा था। बड़ी शान्तमूर्ति थे। रहने का तौर तरीका बड़ा भव्य था। उनको इस बात का बड़ा शौक था कि जो भी नयी चीज बाजार में आती, वे जरूर खरीदते। घर सजाने का उन्हें बड़ा शौक था।

बन्सीलाल अबीरचन्द ने आश्वासन दिया था कि ओवरसियर की रकम चुकाने पर जो रकम बचेगी, वह लौटा दी जायगी। लेकिन अब तक यह प्रामाणिकता नहीं बरती गयी और आज तो इस बड़ी फर्म के सम्बन्ध में भी अनेक तरह की चर्चा प्रदेशभर में चल रही है। उनकी मिलें बन्द पड़ी हैं। समय एक-सा नहीं रहता। अन्याय और पाप का पैसा सारी प्रतिष्ठा को खोखला कर डालता है और कीर्ति का वृक्ष इस तरह सूख जाता है कि आखिर वह जलावन के ही काम आता है। वर्धा के जैन समाज का कर्तव्य है कि खजानची सा० की स्मृति को हमेशा ताजा बनाये रखने के लिए कुछ कदम उठाये।

ब्र० शीतलप्रसादजी

चिरंजीलालजी का ब्रह्मचारीजी से भी काफी संपर्क आया। वे लेखक, वक्ता, त्यागी और सुधारक थे। समाज की उन्होंने बहुत सेवा की है। सारे देश का भ्रमण भी किया। जब वे विधवा-विवाह के समर्थक हो गये, तब वर्धा आये और सनातन समाज की स्थापना की। 'सनातन जैन' पत्र के प्रकाशन के लिए सेठ जमनालालजी ने उनको ५००) प्रदान किये। स्थितिपालकों ने उनका विरोध किया और सुधारकों ने स्वागत किया। सनातन जैन समाज के संचालक और संगठन में वर्धा के स्व० हीरासावजी डोमे का बड़ा हाथ था।

स्वामी सत्यभक्तजी

सन् १९३६ के लगभग स्वामी सत्यभक्तजी वर्धा आये। पहले वे समाज में पं० दरबारीलालजी के नाम से प्रसिद्ध थे। अजमेर से उन दिनों जो 'जैनजगत्' प्रकाशित होता था, उसके आप संपादक थे और समाज-सुधार की दृष्टि से यह पत्र क्रांतिकारी माना जाता था। चिरंजीलालजी के सुधारक विचारों का समर्थन इसने खूब किया। चिरञ्जीलालजी के स्नेह ने ही सत्यभक्तजी को वर्धा का बना दिया कहा जाय, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। सेठ जमनालालजी का भी उनको काफी सहयोग रहा है। वर्धा से एक मील की दूरी पर बोरगाँव में उनका सत्याश्रम है, जहाँ सर्वधर्म समभाव की उपासना चलती है।

गुलाबचन्दजी बड़जाते

वर्धा में श्री लक्ष्मीचंदजी गुलाबचंदजी बड़जाते की एक कान थी। कपड़े

का व्यापार था। गुलाबचंदजी चिरंजीलालजी के गोत्र के भाई लगते थे। जब चिरंजीलालजी का जाति-बहिष्कार हुआ, तब यही एक ऐसे हिम्मतवाले थे जिन्होंने समाज और कुटुम्ब की परवाह न करके चिरंजीलालजी का पूरी तरह साथ दिया। यहाँ तक कि जब गुलाबचंदजी की द्वितीय कन्या चंदाबाई का विवाह हुआ, तब समाज ने इतना विरोध किया कि वर्धा में नाई-धोबी तक का सहयोग नहीं मिला। फिर भी इन्होंने चिरंजीलालजी का साथ नहीं छोड़ा और अपनी ससुराल, वाशिम से काफी लोग बुला लिये। यह कम साहस की बात नहीं है।

श्री गुलाबचंदजी के तीन पुत्र हैं। उनमें से वर्धा में कनिष्ठ पुत्र श्री मूलचंदजी रहते हैं। मूलचन्दजी अपने पिता की तरह सामाजिक कार्यों में काफी दिलचस्पी रखते हैं और जो भी उनके पास पहुँचता है, उसे यथासंभव पूरा सहयोग देते हैं। सरल प्रकृति के होनहार युवक हैं। चिरञ्जीलालजी की बैठक का एक स्थान श्री मूलचन्दजी का घर भी है। चिरंजीलालजी कहते हैं कि श्री मूलचन्द से उन्हें काफी अपेक्षा है। वे श्री चिरञ्जीलालजी के तीनों ट्रस्टों के ट्रस्टी भी हैं।

पारिवारिक स्थिति

श्री चिरंजीलालजी बड़जाते सम्पन्न परिवार में आये। समाज और राजनीति में पड़े। सन् १६२७ में कारोबार ठप हो गया, उधारी डूब गयी। लेना-पावना बही-खातों में ही रह गया। देना पाई-पाई चुकाना पड़ा और आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी। सामान्य भाषा में वे 'गरीब' हो गये। लेकिन यह 'गरीबी' ही चिरंजीलालजी के लिए वरदान साबित हुई। अगर वे गरीब न होते, तो आज उनके पास वह 'पूँजी' कहाँ होती, जो समाज-सेवा के फलस्वरूप उनकी रग-रग में व्याप्त है। उस आर्थिक गरीबी ने उनको सेवा-'सम्पन्न' बना दिया। सेवा की जीती-जागती मूर्ति हैं चिरंजीलालजी।

चिरंजीलालजी ने अपनी संपत्ति और जायदाद का बँटवारा बहुत पहले ही कर दिया है। इस समय आपके तीन पुत्र हैं: श्री प्रतापचन्द्र, श्री विजयकुमार और श्री किशोरकुमार। पहले दो की पढ़ाई तो साधारण ही हुई है, लेकिन तीसरे

पुत्र एम० कॉम हैं और हिन्दी में 'साहित्यभूषण' हैं। तीनों को सम्पत्ति का उचित भाग समान रूप से दे दिया है और वे अपनी स्थिति में सुखी और प्रसन्न हैं।

दो पुत्रियाँ थीं, जिनमें बड़ी पुत्री का देहांत विवाह के बाद हो गया। स्व० राजमती राष्ट्रीय विचार की थीं। सन् '४२ के आंदोलन में जेल भी गयी थीं। उसका विवाह उदयपुर के श्री अनूंपलालजी अजमेरा वकील के साथ हुआ था। वह अपने पीछे दो कन्याएँ छोड़ गयी हैं। एक कन्या श्री प्रतापचन्द के पास है। दूसरी अपने पिता के पास थी, जिसका विवाह हाल ही में हुआ है।

दूसरी पुत्री सौ० शांताकुमारी का विवाह कोटा के श्री नरोत्तमलालजी वकील के साथ हुआ है।

चिरञ्जीलालजी की धर्मपत्नी सौ० प्रमिलादेवी बड़जाते पढ़ी-लिखी तो नहीं हैं, लेकिन चिरंजीलालजी के साथ रहते-रहते अनुभव में काफी प्रौढ़ हैं। आपके नाम पर एक ट्रस्ट भी है, जो २० हजार रुपये का है। उसकी आय से गरीब विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति दी जाती है। समाचार-पत्र आते हैं। एकाध छोटी-मोटी पुस्तिका भी प्रकाशित की जा सकती है।

अभी-अभी श्री प्रमिलादेवीजी ने रामनगर (वर्धा) स्थित जैन मन्दिर में धर्मशाला जैसा एक हॉल बनवाया है, जिसमें ५०००) खर्च हुआ है। इसी तरह महारोगी सेवा-मंडल तथा जैन विद्यार्थी-गृह को एक-एक हजार रुपया दिया है। जब साहू शांतिप्रसादजी जैन को मालूम हुआ कि उनके मामले के निपटारे की खुशी में यह धर्मशाला बनी है, तो उन्होंने चिरंजीलालजी को छह हजार रुपये भेज दिये। लेकिन चिरंजीलालजी ने यह रकम वापस कर दी।

प्रमिलादेवीजी को संस्कारों के कारण बहुत बरदाश्त करना पड़ा है। यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है कि चिरंजीलालजी भले ही उदार, भावुक और परदुःखकातर हों, लेकिन अपने विचारों के कारण उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को खूब सताया है। भारतीय महिला होने के कारण वे सब कुछ सहन करती रही हैं। इसे हम कमजोरी न कहकर उनका साहस ही कहेंगे। पैसे का लोभ तो खैर बड़ों-बड़ों से नहीं छूटता, सो हम कैसे कहें कि प्रमिलादेवीजी भी इससे बच पायी हैं। कभी-कभी चिरंजीलालजी विनोद में उनसे कहते हैं कि 'सुनो प्रताप

की माँ, मैं लाख रुपये की बात कहता हूँ।' तो वे उतने ही सहजभाव से कह देती हैं, 'मुझे लाख रुपये की बात नहीं सुननी, आप उस बात के बदले हजार रुपये ही दे दीजिये।' इस तरह इन दोनों बूढ़ों का विनोद चलता रहता है।

श्री चिरञ्जीलालजी के नीचे लिखे पारिवारिक ट्रस्ट हैं :

१. प्रमिलादेवी बड़जाते जैन सेवा ट्रस्ट– २०,०००)। इस ट्रस्ट द्वारा गरीब छात्रों को छात्रवृत्ति दी जाती हैं।

२. सुगणाबाई बड़जाते चेरिटेबल ट्रस्ट– १५,०००)

यह ट्रस्ट चिरंजीलालजी की माताजी के नाम पर है। इससे गंगापुर में जमनालाल गोनस्ल सुधार केन्द्र चलता है। चरोखर के लिए मुरझड़ी ग्राम में ५० एकड़ जमीन है। ट्रस्ट की आमदनी ७००) वार्षिक है।

३. चिरंजीलाल बड़जाते ट्रस्ट– ४०,०००)। यह ट्रस्ट पारिवारिक है। इस ट्रस्ट की आमदनी में से लगभग १२००) वार्षिक गरीब छात्रों को छात्रवृत्ति के रूप में तथा फुटकर सहायतादी जाती है।

इन सब ट्रस्टों में अधिकतर जमीन ही है।

४. चिरंजीलालजी के पास लगभग २० हजार रु० के शेयर हैं। इनकी आमदनी से ही उनका खर्च चलता है। अब उन्होंने एक वसीयतनामा भी लिख दिया है। भारत जैन महामण्डल के लिए भी कुछ व्यवस्था कर दी है।

अपने तथा परिवार के सम्बन्ध में एक बार (३१. १०. '५१ को) चिरंजीलालजी ने अपने स्मरण-रजिस्टर में नीचे लिखी बातें लिखीं, जो बड़े महत्त्व की हैं :

"एक अप्रैल के बाद अच्छे मुहूर्त में सेठ को अपने विचार तथा त्याग-पत्र देकर मुक्त होने में भला है।

प्रभु वह शक्ति दे, जिससे अन्तिम जीवन सुख-शान्तिपूर्वक बीते। किसी प्रकार का भी अहंकार या घमंड या धनसंग्रह की बुद्धि या कुटुम्बीजनों में मोह न रहे और अन्तिम जीवन सात्विकता से बीते, ऐसी प्रभु से अर्ज है। नीचे मुजब कार्यक्रम रोज नियमित हो :

(१) स्वाध्याय, (२) देव-दर्शन, (३) दान, (४) तप, (५) संयम, (६) मन की शांति व प्रसन्नता।

उपर्युक्त बातों को जीवन में बने वहाँ तक कुछ-न-कुछ उतारने का प्रयत्न करते रहना।

जीवन में जितनी भी झंझटें कम हों और जवाबदारी कम हो, ऐसी कोशिश करना, जिससे जीवन सुख-शांति से बीते।

तीनों लड़कों से मेरी अर्ज है कि सेठ जमनालालजी के फर्म के काम के लिए कभी भी श्री कमलनयनजी या रामकृष्णजी कोई काम कहें, वह नटना नहीं। तन, मन, धन से इस खानदान की—जो भी आपलोगों से बने, सेवा करनी चाहिए। सब एक जूट से (मिलजुलकर) रहें।

तीनों भाइयों के अलग-अलग रहते हुए भी प्रेम में फर्क न आये और एक-दूसरे के दुख-दर्द में काम आवें।

निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना :

(१) कर्जा नहीं लेना।

(२) शराकत (साझेदारी) में व्यापार नहीं करना।

(३) सट्टा नहीं करना।

(४) आमद से ज्यादा खर्च नहीं करना।

(५) कोर्ट-कचहरी से बचना।

(६) कानून के खिलाफ कोई कार्य नहीं करना।

अपनी संतान को बुद्धिमान बनाना। लोकल (स्कूली) शिक्षण के साथ-साथ धार्मिक शिक्षण भी देना। खासकर कसरत, व्यायाम का शिक्षण भी देना। बाल-बच्चे धार्मिक तथा लौकिक बुद्धिमान, तंदुरुस्त बने रहें, इसका खयाल रखना।

स्व० जमनालालजी तथा मेरी स्व० पूज्य माता सुगणाबाई को आज दीपावली के शुभ मंगलमय अवसर पर प्रणाम करके सत्य, अहिंसा का पालन करने का पूरा प्रयत्न करना।"

सेठ जमनालालजी के कार्य

सेठ जमनालालजी के यहाँ चिरंजीलालजी ने ३० वर्ष तक काम किया। इन वर्षों में चिरञ्जीलालजी ने सैकड़ों काम किये हैं। जमनालालजी ने भी इनको बड़े-बड़े कार्य सौंपे और संयोग की बात कि वे उनमें सफल ही होते गये। विरोधी-

तत्त्व भी इनके पीछे लगे रहे, लेकिन 'जाको राखे साइयाँ मारि सकै नहिं कोय।'

चिरञ्जीलालजी के कार्यों से सेठ जमनालालजी को भी संतोष रहा। बाद में कमलनयनजी भी काफी संतुष्ट रहे। जब चिरंजीलालजी निवृत्त होने लगे, तब कमलनयनजी ने कहा था कि आप निवृत्त न हों। लेकिन कुछ ऐसी वृत्ति होने लगी कि अब नौकरी से मुक्त होना ही चाहिए, अतः आग्रह देखकर कमलनयनजी को भी इनकी बात माननी पड़ी।

अणुव्रती बने

आचार्य श्री तुलसी के व्यक्तित्व और उनके अणुव्रत आंदोलन से आकर्षित होकर चिरंजीलालजी अणुव्रती बन गये हैं और परिग्रह की मर्यादा बाँध ली है। सीमित आमदनी में सीमित व्यय करना अब वे अवसर-प्राप्त धर्म मानते हैं।

वर्धा में सार्वजनिक कार्य

चिरंजीलालजी की सार्वजनिक प्रवृत्तियाँ केवल बाहर के लिए ही नहीं रहीं, वर्धा में भी उन्होंने काफी कार्य किये हैं। यों तो वर्धा की प्रत्येक संस्था से आपका थोड़ा-बहुत संबंध रहा है और अनेक तरह से सेवा करते ही रहते हैं, पर कुछ खास संस्थाओं का नामोल्लेख करना उपयुक्त होगा :

(१) **दि० जैन बोर्डिंग**—इस बोर्डिंग हाउस का प्रारम्भ स्व० माणिकचंद्रजी जे० पी० बंबई के हाथों हुआ था। चिरंजीलालजी के काका श्री पन्नालालजी ने २१०१) देना स्वीकार किया था। यह रकम दी गयी। लगभग १२ वर्ष तक चिरञ्जीलालजी ने इस बोर्डिङ्ग की तन-मन-धन से सेवा की। हर साल वार्षिकोत्सव कराते रहे। उत्सव के लिए समय-समय पर प्रतिष्ठित लोग आते रहे। श्री पूर्णसावजी सिवनी, गोपालदासजी वरैया, धन्नालालजी कासलीवाल, नत्थूसावजी एलिचपुर, नवलचंद हीराचन्द बम्बई, चुन्नीलाल हेमचन्द बम्बई जैसे लोग उत्सवों पर पधारे।

(२) **मारवाड़ी सेवा समाज**—इसके चिरञ्जीलालजी दो वर्ष तक सभापति रहे और दस साल तक सभासद। इस संस्था की ओर से एक धर्मार्थ औषधालय चलता था। इसकी ओर से बाढ़-पीड़ितों की सहायता भी हुई।

(३) **म्युनिसिपल मेंबरी**—लगभग १२ वर्ष तक वर्धा की म्युनिसिपल कमेटी के मेंबर रहे। इसी अर्से में हरिजनों के लिए कुएँ खोले गये।

(४) **मारवाड़ी शिक्षा-मंडल**—यह वर्धा की एक ख्यातिप्राप्त संस्था है। स्व० सेठ जमनालालजी ने यह संस्था स्थापित की थी। लगभग १२ वर्ष तक चिरञ्जीलालजी इसके मंत्री रहे। अभी भी कार्यकारिणी के सदस्य हैं।

(५) जमनालाल सेवा-ट्रस्ट के मैनेजिंग ट्रस्टी और श्री लक्ष्मीनारायण देव-स्थान के ट्रस्टी हैं।

(६) चिरञ्जीलालजी के पास एक खासा पुस्तकालय भी था। वे चाहते थे कि यह पुस्तकालय सुचारुरूप से चले। किताबों की सूची ढंग से रहे। उन्होंने इसके लिए बहुत कोशिश भी की। लेकिन आखिर उन्होंने अपना पुस्तकालय कारंजा के जैन गुरुकुल को तथा बाहुबली आश्रम को प्रदान कर दिया। कारंजा आश्रम को १००१) नकद भी दिये। बाहुबली जैन गुरुकुल को ५०१) दिये। कुछ किताबें अन्य पुस्तकालयों में भी दे दी गयीं।

(७) अपनी माता के नाम पर आपने एक ग्रंथमाला भी भारत जैन महा-मंडल में शुरू की। इस 'सुगणाबाई बड़जाते ग्रंथमाला' में आपने ४०००) के लगभग लगाया। उसके अंतर्गत नीचे लिखी किताबें प्रकाशित हुईं—

१. मणिभद्र, २. महावीर वाणी (चार बार), ३. महावीर का जीवन-दर्शन ४. जो सन्तों ने कहा, ५. आँखों देखे आन्दोलन।

महावीर वाणी से तो चिरंजीलालजी इतने प्रभावित हैं कि उसका केवल हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करके बाँटते रहते हैं।

(८) चंदेरिया (चित्तौड) में मुनि जिनविजयजी ने एक आश्रम स्थापित किया है। आश्रम के कुएँ के लिए आपने ५०१) प्रदान किये हैं।

(९) बुलडाणा (विदर्भ) में जैन धर्मशाला के निर्माण के लिए २५००) की सहायता की।

(१०) चांदा में सरकारी टी. बी. अस्पताल में ५००) की सहायता दी।

(११) इसी तरह अनेक लोगों को व्यक्तिगत रूप से, विवाह, बीमारी, बेकारी आदि के समय हमेशा मदद करते ही रहते हैं।

भारत जैन महामंडल के उद्धारक

सन् १६३७ की बात होगी। वैरिस्टर जुगमंदरलालजी ने चिरञ्जीलालजी से कहा कि 'यह उनका बोया हुआ पौधा है। किसी दिन इसकी उपयोगिता को समाज समझेगा। आप इसे सँभालिये।' और चिरञ्जीलालजी थे कि भारत जैन महामंडल के पौधे को बच्चे की तरह उठा लाये। सभा-सम्मेलनों का चस्का तो था ही। लेकिन यह तो धरोहर थी। एक ओर तो समाज में यह वातावरण था कि जातियाँ भी अपनी अहंता और कट्टरता में आकंठ डूबी हुई थीं, इधर यह महामंडल था कि सब संप्रदायों में एकता की घोषणा करता था! कौन इसे सहायता देता, किसको जरूरत थी? लेकिन चिरञ्जीलालजी थे कि हताश नहीं हुए और जहाँ भी मंडप का संकेत मिला, महामंडल का मंच तैयार कर लेते थे। किसीके यहाँ शादी हो, दत्तकविधान हो, मंडल का जलसा कर ही लेते थे। और तो और, मित्रगण भी मजाक उड़ाते रहते कि क्यों इस तरह का तमाशा करते रहते हैं? ऐसी संस्था को दफना ही क्यों नहीं देते? चिरंजीलालजी थे कि सुन लेते और मन ही मन दुःख मानकर चुप हो जाते। क्या करते? वे जानते थे कि जो आज ताना कसते हैं, वे एक दिन इसमें रस लेंगे और इसकी उपयोगिता को पहचानेंगे। संतोष का फल मीठा होता ही है। धीरज रखा, तो आज महामंडल ही महामंडल दिखाई दे रहा है।

यों कहा तो जा सकता है कि महामंडल ने विधायक काम क्या किया? लेकिन गिनाये नहीं जा सकते, ऐसे कितने ही अप्रत्यक्ष काम महामंडल से हुए हैं। रात-दिन चिरंजीलालजी देश का दौरा करते रहते हैं। लोगों के, कार्यकर्ताओं के संपर्क में आते रहते हैं और उनमें समाज-सुधार तथा समाज-सेवा की भावना का संचार करते रहते हैं। भगवान निराकार होते हैं, लेकिन कितने करोड़ प्राणी उस अप्रत्यक्ष की प्रेरणा से जीवन में कृतकार्य होते हैं। महामंडल का कार्य गणित के अंकों से नहीं, भावना की गहराई से मापा जा सकता है। जब मौज में या लहर में आते हैं, तो चिरञ्जीलालजी एक के बाद एक, पचीसों काम ऐसे गिना जाते हैं कि सुनकर महामंडल की महत्ता स्वीकार कर लेनी पड़ती है! संपर्क और विचार-जाग्रति से बहुत काम अपने-आप हो जाते हैं।

आज चिरंजीलालजी का रोम-रोम महामंडल का गीत गाता है। वे स्वयं महामंडलमय हो गये हैं।

व्यक्तित्व

चिरञ्जीलालजी का व्यक्तित्व भानुमती की पिटारी है। वे बहुत भोले हैं, तो बहुत चतुर भी हैं। बहुत अधीर हैं, तो उतने ही दृढ़ भी हैं। सामान्य व्यवहार में आप देखेंगे कि उनमें सहिष्णुता नाम मात्र भी नहीं है, लेकिन जितना उन्होंने सहन किया है, वह मामूली बात नहीं है।

एक बार भी वे जिस व्यक्ति के सम्पर्क में आ जाते हैं, उसके साथ सम्बन्ध निभाने में चाहे जितनी हानि उठानी पड़े, वे उसके लिए तैयार रहते हैं। समाज के होनहार युवक-युवतियों के विवाह कराने का तो उन्हें व्यसन ही लगा हुआ है। साथियों के बीच वे 'शादीलाल' नाम से विख्यात हैं। एक बार जिसकी शादी करा दी, उसके वे पिता बन ही गये।

एक बार मैंने देखा कि एक भाई उनके पास आया। कहने लगा 'सेठजी, मेरी पत्नी बीमार है। कुछ रकम दीजिये।' चिरञ्जीलालजी बोले, 'भाई, मैं आजकल कोई कामकाज नहीं करता, कर्ज नहीं देता।' फिर भी उसने आग्रह किया, तो पचास रुपये दे दिये। मैं तो देखता रह गया। मैंने उनसे बाद में कहा कि 'आप इतने ढीले कैसे हो गये ? 'ना' कहने की हिम्मत तो आपको दिखानी ही चाहिए। इस तरह कैसे चलेगा।' तो बोले, 'भाई, तुम्हारा कहना ठीक है। समझता हूँ। लेकिन क्या करूँ ! किसीकी तकलीफ मुझसे देखी नहीं जाती। दूसरी बात यह कि एक बार मैं उनके यहाँ भोजन कर चुका हूँ। यह सुनकर तो मेरी आँखें खुल गयीं ! इनके व्यक्तित्व का रहस्य मेरी समझ में आ गया और मन-ही-मन प्रणाम करके लौट गया।

मेरे हितचिंतक

मेरा और चिरंजीलालजी का इधर बीस वर्ष से निकट संपर्क रहा है। यों हमारे तथा चिरञ्जीलालजी के परिवार में रिश्तेदारी तो है ही और पिताजी उनके कारोबार के मुनीम भी बरसों रह चुके थे। इसलिए मेरे लिए चिरञ्जीलालजी

का परिचय नयी बात नहीं कही जा सकती। उतने बचपन से मैं उनको जानता हूँ, जहाँ तक स्मृति की पकड़ पहुँचती है। लेकिन असल सम्बन्ध मेरा पिछले बीस-वर्षों से आया है। काम का पहला पाठ मैंने उन्हींसे सीखा। एक समय था, जब पिताजी और उनमें जातिगत विचारों तथा पक्षपातों के कारण मतभेद भी थे। कभी-कभी कुछ बातें इन्हींसे सुनने को भी मिलीं। क्या वह जमाना था, क्या वह जातीयता थी कि अपने भी पराये लगते थे! लेकिन मुझे तो उन्होंने बड़ी आत्मीयता से अपनाया। चिरञ्जीलालजी के विचारों को मैं निकट से पढ़ता रहा। उनके पत्र-व्यवहार को देखता था, उनके अतिथि-सत्कार को देखता था। सभा-सम्मेलन में शरीक होता था। इन सबका यह असर हुआ कि एक अत्यल्प पढ़ा हुआ लड़का विकास की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। उसमें आत्मविश्वास पैदा होने लगा। नहीं कह सकता कि अगर चिरञ्जीलालजी का वरदहस्त मुझ पर न होता, तो मेरी क्या स्थिति होती। मैंने दुनिया में पैर रखा ही था कि पिताजी चल बसे और माँ दुनिया से बेखबर – पागल हो गयी। पढ़ाई-लिखाई के नाम पर यही हाल था कि लोग मुझे 'मूरख' ही कह सकते थे।

भारत जैन महामंडल में काम करने और सीखने का अवसर मिला। 'जैन-जगत्' के प्रकाशन के साथ उसमें मुझे भी जोड़ दिया। मेरे लिए वे काम जुटाते रहे, मैं उनमें जुटता गया। धीरे-धीरे विचारों में परिवर्तन होता गया। उन्हींकी कृपा और तत्परता से मैंने अन्तर्जातीय विवाह की ओर कदम बढ़ाया और यह हिम्मत भी मुझमें उन्हींके संपर्क से आयी कि मैं जाति और रूढ़ि की गुलामी की बेड़ियों को तोड़ने में समर्थ हुआ। यह मेरा सद्भाग्य है कि उनका मुझ पर पुत्रवत् स्नेह है।

मुझे वर्धा छोड़कर काशी आना पड़ा। जिस दिन मेरी धर्मपत्नी काशी के लिए वर्धा से रवाना हुई, उस दिन चिरञ्जीलालजी का दिल मोम से भी अधिक गीला हो उठा था। वह कहती हैं कि वे उस दिन वर्धा से नागपुर तक साथ थे और बैठे-बैठे आँखें गीली करते रहे! गला भरा हुआ था। कितना स्नेह! कितनी ममता!! इसीलिए तो कहता हूँ कि एक बार वे जिसको अपना लेते हैं, उसे मत-भेदों के बावजूद भी छोड़ना पसंद नहीं करते। मैंने उन्हें लिखा कि आपको कुछ

दिन के लिए काशी आना होगा, तो आ गये। मैं तो चाहता हूँ कि वे अब अपना उत्तर-जीवन काशी में ही शांतिपूर्वक बितायें। काशी विश्वप्रकाशी है। काशी-वास उनके लिए पुण्यप्रदायी और संतोषप्रद भी होगा। लेकिन जानता हूँ, वे इसे स्वीकार नहीं करेंगे।

अब चिरञ्जीलालजी ६५ वर्ष पूरे करके ६६ वें में प्रवेश कर रहे हैं। हमारी उनसे प्रार्थना है कि अब वे अपने शरीर पर दया करें और प्रवास रोककर घर पर ही रहें। इस बारे में श्री कमलनयनजी ने तो बहुत पहले अपने एक पत्र में इन्हें लिख दिया था :

'अब आपकी अवस्था ऐसी हो गयी है कि जिसमें काम और सेवा का भी अधिक लोभ नहीं रखना चाहिए। एक-न-एक रोज महान् यात्रा करनी ही है, तो अब छोटे-मोटे पर्यटन बन्द किये जा सकें, तो उसका खयाल रखना चाहिए। किसी एक स्थान पर बैठकर शांति व समाधान का जीवन गुजारने का खयाल रखें। आपके लिए वही तपस्या हो जायगी और उसमें सुख भी मिलेगा।

(ता० २२ नवंबर '५५ के एक पत्र से)

इसी तरह रामकृष्णजी बजाज भी इनसे बम्बई जाने पर कहते रहते हैं कि 'आप बस में न बैठा करें। टैक्सी में ही बैठा करें।'

चिरञ्जीलालजी ने भारत का भ्रमण कम नहीं किया है। न केवल जैनतीर्थ, बल्कि चारों धाम की यात्रा भी वे कर चुके हैं। पर्यटन का तो जैसे उनको व्यसन ही है। लेकिन अब उन्हें इससे मुक्त होना चाहिए। कमलनयनजी के शब्दों में यही उनकी 'तपस्या' हो जायगी।

हम सबकी यही कामना है :

तुम सलामत रहो हजार बरस,
हर बरस के दिन हों पचास हजार।

स्मृति के कण

चिरंजीलाल बड़जाते

[चिरंजीलालजी के अनुभव-भंडार में यों तो सैकड़ों और हजारों घटनाएँ हैं और उनमें जीवन के अजीबोगरीब रहस्य छिपे हैं। हमारा खयाल है कि अगर कोई साहित्यकार उनके पास बैठ जाय और कुरेद-कुरेदकर घटनाओं को शब्दों का जामा पहना दे, तो यह कृति साहित्य-जगत् की अनमोल निधि बन सकती है। यहाँ तो केवल थोड़ी-सी बानगी प्रस्तुत की जा रही है। इन संस्मरणों में समय का कोई क्रम नहीं है। इनमें से बहुत-से संस्मरण 'जैन जगत्' तथा 'नया जीवन' में प्रकाशित हो चुके हैं। ये संस्मरण उन्होंने सन् '५६ में लिखाये थे।]

१. वह ताँगेवाला

बीना की बात है। गाड़ी का समय हो चला था। एक ताँगा जा रहा था। मैं उसमें बैठ गया। मैं कभी बिना ठहराये न कोई चीज खरीदता हूँ, न किसी सवारी का उपयोग करता हूँ। नाई से दाढ़ी भी पैसे ठहराकर बनवाता हूँ। क्योंकि बाज लोग बाद में झगड़ा करते हैं, दूने और चौगुने पैसे माँगते हैं और उतने पैसे अपनी इज्जत बचाने के लिए देने पड़ जाते हैं। खासकर ताँगेवालों और रिक्शावालों के सम्बन्ध में तो यही आम अनुभव है। लेकिन उस दिन जल्दी में था, बिना ठहराये ही बैठ गया।

स्टेशन आया, उतरा। मैंने ताँगेवाले के हाथ में आठ आने थमाये और आगे बढ़ने लगा।

ताँगेवाला वृद्ध था। उसने दो आने वापस लौटाते हुए कहा : सेठजी, मेरा रेट छह आना सवारी है, ज्यादा नहीं ले सकता।

मैंने कहा : छह आना है तो क्या हुआ, मैं तुम्हें राजी-खुशी आठ आने दे रहा हूँ।

नहीं, मैं नहीं ले सकता—उसने कहा।

मैं उसकी बात सुनी-अनसुनी करके स्टेशन के प्लेटफार्म तक पहुँच चला, तो वह दौड़ता हुआ मेरे निकट आया और बोला : लीजिये आपके दो आने।

मैं सुनकर चकित-थकित रह गया। उस वृद्ध मुसलमान ताँगेवाले की दृढ़ता के आगे मेरा मन पुलकित हो उठा। मैंने कहा : मैं आपको अपने मन से इनाम दे रहा हूँ।

लेकिन वह भी एक ही था। कहा : इनाम किस बात का? मैंने मेहनत की है, मेहनत का ले सकता हूँ। यहाँ और बहुत-से ताँगेवाले हैं, जो दो आना भी लेते हैं और दो रुपया भी। लेकिन मेरा नियम एक है। छह आना सवारी से अधिक न कभी लेता हूँ, न कभी कम। इसलिए आपसे छह आने ही लूँगा।

उस वृद्ध मुसलमान की इस अनासक्ति और निर्लोभ वृत्ति को देखकर मेरा मस्तक झुक गया।

काश! अहिंसा और सत्य का दम भरनेवाले हम इस कसौटी पर अपने व्यवहार को कसने का प्रयत्न करते!

२. पैसे देना भूल गया

बम्बई के वेलकम होटल की बात है। एक दिन किसी भाई के साथ मैं उस होटल में नाश्ते के लिए चला गया। उस होटल का रिवाज यह है कि जल-पान पूरा हो चुकने पर आदमी पैसे की एक चिट्ठी सामने लाकर रख देता है। सात आने की चिट्ठी मेरे सामने आयी। पता नहीं, मैं किस मनःस्थिति में था कि जेब से पैसे निकालने के बदले वह चिट्ठी ही जेब में डाल ली। न किसीने पैसे माँगे, न मैंने दिये। दफ्तर चला आया, मानों कुछ हुआ ही न हो।

दूसरे दिन सबेरे जब मैं शौच को गया और वहाँ जेब से वह पुर्जा निकला, तो बड़ा बुरा लगा। मन ग्लानि से काँप उठा। अब मुझे चैन नहीं था। बाहर निकला, कपड़े पहने और उस होटल तक गया।

होटल के मालिक से मैंने यह घटना कह दी और कहा कि इस भूल के प्रायश्चित्तस्वरूप एक रुपया दण्ड भी लीजिये।

होटल के मालिक ने कहा : भाईसाहब, एक आप ही मिले हैं, जो पैसे के साथ-साथ दंड भी देना चाहते हैं। लोग तो पैसा भी कहाँ देना चाहते हैं? उन्होंने मुझसे दंड तो नहीं लिया, लेकिन ऊपर से अपनी ओर से चाय पिलायी।

यह दूसरी बात है कि उस होटल के हर कर्मचारी को मुझ पर विश्वास हो गया हो और कोई पैसे के सम्बन्ध में बोलता तक नहीं! लेकिन अगर हम उस होटल और मैं को छोड़ दें, तो होटल-मालिक की उस बात का हमारे पास क्या जवाब है कि पैसे ही कितने लोग देना चाहते हैं?

चाहे प्लेटफार्म पर जाइये, चाहे सिनेमाघर, चाहे अखबार पढ़िये या शाक-सब्जी खरीदिये, आज हर आदमी की वृत्ति यह हो गयी है कि सामनेवाले को छकाया कैसे जाय। मैं बार-बार यही सोचता रह जाता हूँ कि आदमी दो-चार आने पैसे ही क्यों दबाना चाहता है। असल बात यह है कि सैकड़ों और हजारों को पचाने की ताकत नहीं होती और पचाना चाहें, तो पचा भी नहीं सकते, कोई पचाने भी नहीं देता। लेकिन थोड़े-से पैसों को लेकर आये दिन ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं।

३. मालिक आ रहे हैं!

वर्धा के पास ब्राह्मणवाड़ा एक देहात है। वहाँ हमारी कुछ खेती होती थी। एक दिन मैं वहाँ जाने के लिए निकला। देहात के कर्मचारियों को खबर कर दी थी। बैलगाड़ी से निकला।

रास्ते में दो स्थानों पर बैल चौंके। घना जंगल था। वहाँ शेर आदि जंगली जानवरों का भय हमेशा बना रहता था। बैल वहाँ चौंकते तभी हैं, जब शेर आदि की गंध आती है। किसी तरह सूर्यास्त होते-होते हम ब्राह्मणवाड़ा पहुँच गये।

उस दिन हमारे कार्यकर्ता की पत्नी ने घर झाड़-पोंछ और लीप-पोतकर बड़ा साफ-सुथरा कर रखा था।

मैं अपने साथ खाने की सामग्री ले गया था। मैंने पानी माँगा, तो मुझे कहा गया कि कार्यकर्ता की पत्नी कुएँ पर पानी लाने गयी है। लेकिन मेरे खा चुकने

के बाद तक पानी नहीं आया, तो किसीको कुएँ पर भेजने की बात आयी। इतने में किसीने आकर खबर दी कि वह कुएँ पर पैर फिसल जाने से गिर पड़ी और मर गयी।

दिनभर बेचारी ने उत्साह में कार्य किया, घर की सफाई की और आखिर यह दृश्य देखने को मिला!

पास-पड़ोस की बहनों ने कहा: वह आज कह रही थी कि मालिक आ रहे हैं। घर के सामने से मुर्गियों को हटाया, यह किया, वह किया।

घर की सफाई में घर का ही सफाया हो गया!

घटना मेरे लिए अविस्मरणीय बन गयी। उस कुएँ को पक्का बँधवा दिया गया और आज भी मैं उसे आतिथ्य-स्मारक के रूप में याद कर लेता हूँ और उस कुएँ से अब भी मेरे कानों में यह ध्वनि आती रहती है: 'मालिक आ रहे हैं!'

४. क्या रुपये देने को लिये थे?

जब हम दोनों भाइयों का कारोबार सम्मिलित रूप से चलता था, तब एक व्यक्ति के हमारे यहाँ कुछ रुपये जमा थे। उस समय उस भाई का कारोबार भी ठीक था। पर जब हम दोनों भाइयों का कारोबार अलग-अलग हो गया, तो उस व्यक्ति का देना भी भाई की ओर ही गया। कुछ समय बाद उस व्यक्ति ने अपनी रकम उठा ली।

एक दिन वह भाई मेरे पास आया और बोला: भाईजी, मैं मारवाड़ जा रहा हूँ। शादी करनी है। रुपयों की जरूरत पड़ेगी। मैं खबर दूँ, तो रुपये भेजने की कृपा कीजिये।

यद्यपि उस समय मेरा हाथ तंग था, लेकिन 'हाँ' कर चुका था, इसलिए सूचना मिलते ही मैंने उसके पास चार सौ रुपये भिजवा दिये। शादी करके वह कुछ दिनों बाद वर्धा आया, तब उसने कहा कि दूकान आदि जमानी है, अगर

आप तीन सौ रुपये और दे दें, तो शहर के व्यापारियों से माल आदि लेने में बड़ी सुविधा होगी। उस समय तीन सौ के आधार पर आदमी तीन हजार का भी काम चला लेता था। मैंने उसकी आवश्यकता को देखकर तीन सौ रुपया और दे दिया। अब उसकी तरफ सात सौ रुपये हो गये थे।

बहुत दिनों के बाद मैं रुपयों के लिए उसके पास गया। रातभर बैलगाड़ी में चलकर उसके गाँव पहुँचा। दरवाजे पर वह मिला। 'जय रामजी की' करने के बाद उसने छूटते ही पूछा : कैसे आना हुआ सेठजी ?

पहले तो मैं यह सुनकर जैसे सन्न रह गया, फिर सँभलकर बोला : भाई, रुपयों के लिए ही आया हूँ। जरूरत है।

काहे के रुपये, आपको क्या हो गया है ? तंगी आयी, तो बुद्धि भी फिर गयी मालूम होती है। रुपये क्या देने को लिये थे ?

मैं बैलगाड़ी का बैलगाड़ी में और उसका दो टूक का उत्तर ! मुझ पर तो घड़ों पानी पड़ गया।

जिसकी शादी के लिए रुपये दिये, जिसको आजीविका के लिए सहारा दिया, वही आज अनजान बनकर तिरस्कार कर रहा था। गाड़ी से उतरने को भी नहीं कह रहा है। एक बार तो ऐसा लगा कि परोपकार करना पाप ही तो नहीं है ?

मैं गाँव के बाहर नदी किनारे गया। जी भरकर रोया, फिर हाथ-मुँह धोकर कुछ नाश्ता-पानी किया और जरा भी मुझे उधारी की वसूली नहीं मिली। लाचार थक-थकाकर मैं घर लौट आया। कहावत प्रसिद्ध है कि विपत्ति में कोई सहायक नहीं होता।

लेकिन यह क्या ?

दूसरे ही दिन मैंने सुना कि वह उसी दिन रात को मर गया और उसकी पत्नी जेवर, रुपया-पैसा लेकर अपना रास्ता नाप गयी।

तब समझ में आया कि जब परोपकार पीड़ित होता है, तो पाप की मौत हो जाती है। लेकिन मैं अब तक जान नहीं पाया कि वह उसी दिन क्यों मरा। अब तक यह रहस्य ही बना हुआ है।

५. अन्याय का पैसा

वर्धा में हमारी फर्म प्रसिद्ध थी। कारोबार बहुत बड़ा था। लाखों का व्यापार होता था। लेकिन सबके दिन समान नहीं होते। धीरे-धीरे ह्रास के दिन आये और एक दिन हमारा कारोबार फेल हो गया।

जब मैं इसकी गहराई में जाता हूँ, तो मुझे कारोबार के ठप होने का एक कारण प्रतीत हुआ।

नामदेव नामक एक व्यक्ति की तरफ कुछ रुपया लेना था। बेचारा गरीब था। गरीब था वह आर्थिक दृष्टि से, लेकिन वह अमीर था और वह पूँजी थी उसकी भक्ति-परायणता, सरलता। वह वास्तव में संत-हृदय था। नामदेव तो उसका नाम था ही, पर वह महाराष्ट्र के प्रसिद्ध संत नामदेव—तुकाराम का भक्त भी था।

मैंने अपने मुनीम से अनेक बार कहा कि उस पर मुकदमा मत करो। लेकिन उस पर मुकदमा किया गया, डिगरी भी उस पर हो गयी, फिर भी मैंने कहा कि अब चुप हो जाओ। डिगरी वसूली के लिए वारण्ट मत निकालो। बेचारा कैसे जीवन बितायेगा? लेकिन मुनीम का जीवन अर्थ में ही बीता था, वे उसके आगे किसीको महत्त्व नहीं देते थे।

आखिर वे अपने मन का करके ही रहे। बेचारे के घर के बर्तन आदि भी कुर्क कर लिये गये। उसका तो क्या, वह भक्त था, कुछ भी न बोला।

लेकिन संत को सताना अन्याय है, पाप है, अपराध है। यह मैं पहले से मानता था।

इस घटना ने मेरे मानस पर गहरी चोट की और कारोबार भी चौपट हो गया। किसी महात्मा ने सच ही कहा है कि पाप का एक छींटा भी भस्म कर देता है।

६. सूत के धागे की कीमत

मैंने माँ से आकर कहा कि मैंने आज अमुक बहन को धर्म की बहन मान लिया है और उससे राखी बँधा ली है।

माँ वृद्ध थी, अनुभव था उसे, मातृ-हृदय उमड़ पड़ा। बोली : बेटे, तूने यह क्या किया? धर्म की बहन बनाना तो ठीक, लेकिन उसका पालन करना बड़ा कठिन होता है। फिर दो बहनें तो तुमको थीं ही, ऐसी क्या जरूरत थी बहन बनाने की?

माँ के स्वर में जरा वेदना और तेजी थी। मैं जवान था। पैसा भी आगे-आगे नाचता था। मैंने कहा : माँ, बेचारी का पति भक्त है, किसीके साथ कोई नाता-रिश्ता नहीं, वह अपने को एकाकी, निरीह अनुभव करती है। क्या हुआ बना लिया तो?

माँ अब क्या कहती।

उस बहन के पति ने मेरी साझेदारी में थोड़ा-बहुत रूई का काम शुरू किया। धीरे-धीरे वे कारोबार बढ़ाने लगे। उनको और अधिक पैसा कमाने का चस्का लगा। मुझसे उन्होंने कहा कि बम्बई के अमुक व्यापारी को चिट्ठी लिख दें, ताकि वहाँ कुछ किया जा सके। मैं अनुभवशून्य भावुक था। बातों में आकर चिट्ठी लिख दी। उन्होंने बम्बई में सट्टा खेलना शुरू कर दिया। अन्त में जाकर पता लगा कि उन्हें ६० हजार का नुकसान लगा है। वे तीन साझीदारों के साझे में यह करते थे।

आखिर मैंने उन्हें बहुत कुछ कहा-सुना। वे अपनी बुआ के यहाँ से किसी तरह कुछ रकम लाये। फिर भी थोड़ी-सी रकम उनकी तरफ रह गयी। बाकी सबका नुकसान मुझे चुकाना पड़ा।

बाद में उन्होंने खानगाँव नामक एक देहात में दूकान की।

बहन को जब मालूम हुआ कि मेरे भाईचारे का उसके पति ने दुरुपयोग किया और सम्बन्ध बिगड़ते जा रहे हैं, तो वह मन-ही-मन दुखी रहने लगी और अन्त में बीमार पड़कर मर गयी।

बहन के मरने के बाद उनके विचार-परिणाम मेरे प्रति बदल गये। मुझे गालियाँ भी बकने लगे। उन्हें एक देहात में मालगुजारी की कुछ जमीन भी

मिली। वह मुझे कर्ज के पेटे देनेवाले थे, लेकिन बहन के मरने के बाद वह जमीन दूसरे को बेच दी।

आखिर मुझे अदालत की शरण लेनी पड़ी और बाद में उन्होंने प्रायश्चित्त-स्वरूप मुझसे क्षमा भी माँग ली।

अन्त में उन्हें वहाँ के जीवन से ग्लानि हो गयी। मेरे पास आये। बोले : अब मैं यहाँ से विदा हो रहा हूँ। मुझे विदा दे दीजिये।

मैंने उन्हें विदाई में १०१ रुपया दिया और वे किसी तीर्थस्थान पर चले गये।

वे खाने-पीने के मामले में बड़े संयमी थे। किसीके हाथ का पानी भी नहीं पीते थे, किन्तु मानस की गहराई में कौन झाँक सकता है? उमर की तरह विचार-परिवर्तन भी होता ही रहता है।

इस घटना ने मुझे दो पाठ सिखाये—एक तो यह कि किसी की साझेदारी में काम नहीं करना चाहिए, क्योंकि मुख्य साझेदार को सबका नुकसान भरना होता है और दूसरे, किसी प्रकार का सम्बन्ध या रिश्ता बहुत सोच-समझकर बाँधना चाहिए।

७. चुकता रसीद दे दी

एक भाई के द्वारा उनसे मेरा परिचय हुआ। वे सुप्रसिद्ध समाज-सेवक और साहित्य-सेवक माने जाते थे।

वर्धा में मैंने सन् १९२३ में मध्यप्रदेशीय दिगंबर जैन सभा का आयोजन किया। उनको मंत्री बनाया।

कुछ दिनों बाद उनका पत्र मिला कि व्यक्तिगत जरूरी काम के लिए पाँच सौ रुपये भेजिये। मैंने रुपये भेज दिये।

उन्होंने एक प्रकाशन-संस्था भी खोली। अपने उग्र विचारों के कारण उनको स्टेट ने अपनी सीमा के बाहर चले जाने का आदेश दे दिया। उनकी आर्थिक हालत बिगड़ती गयी थी।

उन दिनों अन्तरजातीय या विधवा-विवाह करना आसान बात न थी। जरा-जरा-सी बात पर जाति-बहिष्कार की घोषणा हो जाया करती थी। उदयलालजी विवाह करना चाहते थे। समाज में प्रयत्न किया गया। मेरी माँ भी पाँच हजार रुपये खर्च करने को तैयार थी। लेकिन दुर्भाग्य से वे और हम उस जाति में पैदा हुए थे जिसमें पैसे का ही बोलबाला रहा। गरीब को कन्या कौन देता !

वे सुधारक तो थे ही। एक विधवा ब्राह्मणी से उनका विवाह करा दिया गया। अर्जुनलालजी सेठी विवाह के पुरोहित बने थे। विवाह के पाँच-छह वर्ष बाद वे चल बसे। ब्राह्मणी अब पागल-सी हो गयी। पं० नाथूरामजी प्रेमी इस संबंध के पक्ष में नहीं थे।

सेठ जमनालालजी बजाज ने उदयलालजी की प्रतिभा से प्रभावित होकर पन्द्रह हजार रुपये से बंबई में गांधी हिन्दी पुस्तक भंडार खुलवा दिया था। बाद में वह साहित्य भवन लिमिटेड में परिवर्तित हो गया। वह ब्राह्मणी अब दिन को ही लालटेन हाथ में लेकर शहर में घूमने लगी और सेठजी को बदनाम करने लगी कि मेरे पति के पन्द्रह हजार रुपये खा लिये।

मैं उस समय यद्यपि उनके काम पर नहीं था, फिर भी यह मुझसे बरदाश्त न हो सकता था। सेठजी ने भी मुझसे इसका संकेत किया। मैंने किसी तरह समझा-बुझाकर उस ब्राह्मणी को विश्वम्भरदासजी गार्गीय, झाँसी के यहाँ भेज दिया। वहाँ भी वह पागल-सी रही। वे भी दुःखी रहे। अंत में वह मर गयी। इस बात का आज भी हमें अफसोस है कि उदयलालजी की मित्रता के नाते भी उस ब्राह्मणी को न सँभाल सका। लेकिन मेरी भी कुछ लाचारी थी।

उदयलालजी समाज के सच्चे सेवक और उत्साही युवक थे। हमारी मित्रता भी अंत तक बनी रही। खेद है कि ऐसे सेवक की प्रतिभा का लाभ समाज को अधिक समय तक न मिल सका।

उदयलालजी के स्मरण में सेठ जमनालालजी ने ब्र० शीतलप्रसादजी को सनातन जैन समाज के संचालन के लिए पाँच सौ रुपये दिये थे।

९. मेरी दुर्बलता

मुझे विद्वानों और त्यागियों के संसर्ग में आनन्द आने लगा था । जब मुझे मालूम हुआ कि अमुक त्यागी और विद्वान् को एक आश्रम इसलिए छोड़ देना पड़ा कि उनके विचार परम्परा और रूढ़ियों के बहुत आगे थे । वे समाज-सेवक तो थे, पर अपने ढंग के थे । भरी जवानी में उन्होंने सन् १९१० में घर-बार छोड़ दिया, ऊँची सरकारी नौकरी छोड़ दी और सेवा के मैदान में कूद पड़े । चार साल तक एक शिक्षा-संस्था के संस्थापक, अधिष्ठाता, संचालक और सर्वस्व रहने के बाद उन्होंने उसे छोड़ दिया । समाज उनके प्रयोगों को सहन न कर सका ।

मेरे प्रेमभरे निमंत्रण पर वे वर्धा आ गये । एक सज्जन के यहाँ वे भोजन करते और बोर्डिंग के अधिष्ठाता का कार्य करते थे । उस समय तक वे सातवीं प्रतिमाधारी थे ।

कुछ समय बाद बोर्डिंग हाउस का अधिवेशन हुआ । बोर्डिंग के बीच की मंजिल पर अधिवेशन हो रहा था । ब्र० शीतलाप्रसादजी वहाँ उपस्थित थे । समाज रूढ़िप्रिय था । ब्रह्मचारीजी की उन दिनों चलती थी । अधिष्ठाताजी ऊपर के भाग में बैठे थे । उनको वर्किंग कमेटी में नहीं बुलाया गया । ब्र० शीतलाप्रसादजी अधिष्ठाता बना दिये गये ।

बाद में अधिष्ठाताजी के पास जब मैं पहुँचा, तो वे व्यथित थे । उन्होंने कहा : मुझे यहाँ बुलाया क्यों गया ? क्या मैं राह का भिखारी था कि यहाँ भटक गया ? क्या मैं इतना खतरनाक था कि मीटिंग में बैठ भी नहीं सकता था ? मुझमें काटो तो खून नहीं ! वस्तुतः यह मेरा बहुत बड़ा अपराध था । एक त्यागी का यह अपमान था, जो मेरी कमजोरी से हुआ । समाज तो महान् लोगों को ठुकराता ही है । और वह दुःख की बात नहीं, पर मैं ही उस समय समाज की हवा में क्यों बह गया, पता नहीं । आज भी मुझे इस घटना का दुःख है ।

१०. बालपन की प्रीत

बचपन की मधुर स्मृतियाँ जीवन की स्थायी निधि होती हैं। उषःकाल की तरह बचपन भी बड़ा पवित्र, निर्मल, प्रेरक और मधुमय होता है। लेकिन यह समय सदा टिकता नहीं और फिर तो केवल स्मृतिमात्र ही रह जाती है।

उस दिन मैं जयपुर के रामनिवास बाग में टहल रहा था, तो पीछे से किसीने आवाज दी : ओ चिरंजी ! ओ चिरंजी !! सुनकर मैं अवाक् रह गया। आज इस स्थान पर चिरंजी कहनेवाला कौन महाभाग है ? नजदीक आने पर मैंने पहचाना कि वे मेरे बचपन के साथी गोपीचन्दजी चौधरी थे।

एक समय था, जब हम दोनों साथ-साथ खेलते थे, पढ़ते थे। बचपन के राज में न कोई छोटा-बड़ा होता है, न कोई धनी-गरीब, न कोई ऊँच-नीच। बचपन में हर व्यक्ति धूलभरा हीरा होता है।

बरसों बाद हम मिले थे। आँखों से आँखें मिलीं, आत्मा से आत्मा। दो बचपन एक साथ मिल रहे थे। उन्होंने विनोद करते हुए कहा : अरे चिरंजी, भूल गया, अब काहे को याद करे तू। बड़ा हो गया, पैसा भी हो गया। घमंड आ गया तुझे। अब वे मुझे कहाँ छोड़नेवाले थे। अपने घर ले गये। आतिथ्य-सत्कार किया।

अब जब भी जयपुर जाता हूँ, तो उनके यहाँ गये बगैर नहीं रहता।

जीवन में हजारों से सम्बन्ध आता है, मित्र बनते हैं, लेन-देन चलता है; लेकिन इन सबके बावजूद भी बचपन के साथी से मिलने में जो अमृतोपम सुख मिलता है, उसकी तुलना स्वर्ग से भी नहीं की जा सकती।

११. मेरी पढ़ाई

आज से पचास वर्ष पहले की बात कह रहा हूँ। पढ़ाई तो हर युग में होती रही है और आगे भी होती रहेगी। पढ़ाई-शास्त्र के इतिहास में मुझे जाना भी नहीं है। मैं तो केवल यह बताना चाहता हूँ कि पढ़ाई की आत्मा क्या होती है। देहातों में विज्ञान तो अब भी नहीं पहुँचा है, लेकिन पचास वर्ष पहले तो उसकी गंध भी नहीं थी।

हम सब बच्चों को एक मौलवी साहब पढ़ाया करते थे। स्लेट-पेंसिल उस समय नहीं थी। मिट्टी का समतल ढेर बनाकर उस पर लाल गेरू बिखेर दी जाती थी और उस पर लकड़ी के बड़ते से अक्षर लिखे जाते थे। मौलवी साहब बच्चों को उर्दू पढ़ाते थे, और एक पंडितजी पहाड़ा आदि। जब कभी कोई त्यौहार या उत्सव आदि का दिन आता, तब उर्दू के कुछ शेर आदि कंठस्थ करने को देते थे।

और इस सब पढ़ाई के बदले मौलवी साहब को हर घर से महीनेभर में आध सेर आटा मिलता था। वे उसीमें संतुष्ट रहते थे।

गाँव का शिक्षक, गाँव का वैद्य गाँव की निधि होते हैं। गाँव उनकी फिक्र करे और वे गाँव की। लेकिन आज तो सारे संबंधों की आत्मा पैसा हो गया है। शिक्षक बिना रुपयों के बात नहीं करता और वैद्य भी बिना पैसे लिये किसीके दरवाजे पर पैर नहीं रखता।

आज की पढ़ाई इतनी भार रूप हो गयी है कि बड़े-बड़े विचारक उसका तोड़ देने की बात करते हैं।

असली पढ़ाई है प्रेम और अनुभव। प्रेम का अढ़ाई अक्षर पढ़ लें तो भी पंडित हो सकते हैं।

१२. जैन पोलिटिकल कान्फ्रेंस

पूज्य बापू ने देश में राजनीति की हवा फैला दी थी। बड़े-बड़े विचारक गांधी की आंधी में कूद पड़े थे। फिर भी देश का अधिकांश वर्ग इससे घबराता था, भयभीत था। ब्रिटिश सत्ता थी।

किसीने मेरे सामने सुझाव रखा कि वर्धा में जैन पोलिटिकल कान्फ्रेंस की जाय। मैं राजी हो गया। श्री वाडीलाल मोतीलाल शाह को अध्यक्ष मनोनीत किया गया। महात्मा भगवानदीनजी को बुलाया गया। अर्जुनलालजी सेठी पूरे जोश से उसमें लगे थे। श्री अजितप्रसादजी लखनऊ भी आये थे।

एक स्थानीय व्यापारी को हम लोगों ने स्वागताध्यक्ष बनाया था। उस समय तो पोलिटिकल या राजनीतिक नाम से ही विदेशी सत्ता को चिढ़ थी।

चारों तरफ पूछताछ होने लगती। हमारे स्वागताध्यक्ष महोदय तो एक तीर्थ पर चले गये।

जब पूज्य जमनालालजी बजाज को मालूम हुआ कि वे कांफ्रेंस आदि में कुछ समझते नहीं और घबरा गये हैं, तो मेरी ओर से उनको पत्र लिख दिया कि वे बिलकुल न घबरायें। आप स्वागताध्यक्ष नहीं रहेंगे। आपका इस्तीफा मंजूर कर लिया है। पर वे कांफ्रेंस तक नहीं लौटे।

मैं भी कान्फ्रेंस का अर्थ नहीं जानता था। जमनालालजी ने मुझे भी बहुत कुछ समझाया। उस समय वे राय बहादुर भी थे।

कांफ्रेंस का समय निकट आया। श्री वाडीलाल मोतीलाल शाह, महात्मा भगवानदीनजी आदि का भव्य जुलूस निकाला गया। एक से एक बढ़कर भाषण हुए। पंडित नेकीराम शर्मा और खापर्डे महाराज के भी राजनीतिक भाषण हुए।

जैन भाइयों ने कांफ्रेंस को असफल बनाने का प्रयत्न किया। ब्र० शीतलप्रसादजी भी वहाँ पहुँच गये। लेकिन कांफ्रेंस हुई और सफल हुई।

उसके वे सजीव दृश्य आज भी मेरी आँखों के सामने झूमने लगते हैं। इसी अधिवेशन में महात्मा भगवानदीनजी को एक मानपत्र दिया गया, जिसमें उनको षष्ठ गुणस्थानवर्ती लिखा गया था। षष्ठ गुणस्थान में तो सर्व-संग परित्यागी मुनि ही आते हैं। अतः उनके प्रति इस पद का व्यवहार सारे समाज के लिए खलबली का विषय बन गया था। और यह उस समय की बात है, जब कि सरकार के विरुद्ध एक शब्द बोलना भी गुनाह था, सामाजिक क्रांति की बात करना अपराध था। धर्म रूढ़ियों में आबद्ध था, शिक्षा की दृष्टि से समाज एकदम गिरा हुआ था। उस समय का यह प्रयत्न आज की अपेक्षा बाल-प्रयोग ही था, फिर भी उसका अपना महत्त्व था।

१३. दिवालिया होने से बच गये

सन् १९२७ में हमारा कारोबार फेल हो गया। लोगों का लगभग सवा लाख रुपया देना सिर पर था। एक लाख रुपया उधारी में अटक गया, कुछ खेती में और मकान आदि में।

बहुत से लोगों ने कहा कि अगर हम दिवालिया बन जायँ तो घर के जेवर, खेतीबारी बच जायगी और साहूकार लोग भी चुप हो जायेंगे। हिस्से के अनुसार कर्ज अदायगी हो जायगी। बहुत से कर्जदार दिवालिया बन जाते थे, लेकिन यह अपमानजनक माना जाता था। दिवालिया बनना एक प्रकार का कलंक माना जाता था। माँ ने कहा कि चाहे सर्वस्व चला जाय, लेकिन दिवालिया नहीं बनना है।

सेठ जमनालालजी बजाज ने इस संबंध में हमारी बहुत मदद की, काफी समय दिया। उन्होंने और पू० जाजूजी ने भी यही कहा कि दिवालिया बनने की जरूरत नहीं है। सेठजी ने सारा हिसाब-किताब देखा। बहुत से साहूकारों को बुलाकर किसीको खेत, किसीको मकान, किसीको नकद चुका-चुकाकर हिसाब निपटाते रहे।

उनका स्वयं का भी काफी रुपया था। लेकिन उन्होंने मकान, जेवर, खेत आदि न लेकर असामियाँ ही लीं। यानी उधारी ही अपने लिए ली। प्रायः कोई साहूकार उधारी नहीं लेना चाहता।

उनकी सलाह और मदद से मैं और मेरा परिवार इस बड़े भारी संकट से मुक्त हो गया। यों तो सेठजी के हम पर अनन्त उपकार हैं, किन्तु जब मैं उनके यहाँ काम नहीं करता था और बाजार में बैठकर मुँह पर कालिख पुतने का समय आ गया था, तब सेठजी ने जो ढाढ़स बँधाया, लोगों का देना निपटाया, वह हमारे जीवन के लिए बहुत बड़ी बात है।

१४. मित्रता के नाम पर

एक बार एक भाई मेरे पास आये। उनकी स्थिति तंग थी। सुधारक भी थे। किसी भी सुधार और सुधारक को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती थी। उसके लिए कुछ किया जाय, यह मेरी इच्छा रहती थी।

उन्होंने कहा कि अगर दो हजार रुपया मिल जाय, तो वे खादी-प्रचार का काम करना चाहते हैं। खादी-काम उन दिनों शुरू ही हुआ था। मैंने सोचा, अगर ये खादी का काम करें और कुछ जीविका भी निकल आये, तो ठीक है। रुपया तो बाद में दे ही देंगे।

कुछ समय बीतने पर मैंने रुपयों की माँग की और उनकी हालत भी ठीक हो गयी थी। तब उन्होंने देने से इनकार कर दिया। मित्र पर नालिश करना मैंने उचित नहीं समझा। कानूनी मियाद तीन वर्ष की होती है। वह खतम हो चुकी थी। उसका उन्होंने नाजायज फायदा उठाया।

आखिर दो हजार का फैसला एक हजार में किया गया। सौ रुपये प्रतिवर्ष की किश्तें बाँधी गयीं। लेकिन वे भी पूरी नहीं चुकीं।

उस घटना ने मुझे व्यथित तो किया ही, लेकिन एक सबक भी दिया और वह यह कि अगर किसीको मित्र मानते हो, तो कर्ज से रकम मत दो। कुछ देना ही पड़े, तो कर्ज मानकर मत दो और वापस नहीं मिलती है, तो दुःख मत मानो। वापस लेने की भावना से मत दो।

पैसे के चक्कर में मित्रता के धर्म को निभानेवाले विरले ही होते हैं।

१५. मन्दिरों का परिग्रह

हमारे यहाँ परिग्रह को पाप कहा गया है। परिग्रह सारे अनर्थों की जड़ होती है। हिंसा के साथ-साथ परिग्रह को जोड़ने का यही अर्थ है कि परिग्रह भी हिंसा और विनाश का कारण होता है।

लेकिन जिस प्रकार चोरी करना अपराध माना गया, तिरस्करणीय माना गया, वैसे ही परिग्रह को तिरस्करणीय या त्याज्य नहीं माना गया। अपरिग्रह को व्यक्तिगत जीवन में प्रतिष्ठा तो मिली, किन्तु समाज-जीवन में परिग्रह की ही महिमा रही। परिग्रह को तो बल्कि कानून का भी सहारा मिलता गया।

जो परिग्रह समाज में प्रतिष्ठा पाता रहा, वह वीतराग-मंदिरों में भी संचित होने लगा। वहाँ भी सोने, चाँदी और हीरे-जवाहरातों का प्रवेश हो गया।

एक ओर तो हम यह कहते रहे कि मंदिरों में जो कीमती उपकरण हैं, वे निर्माल्य हैं, जो चीज चढ़ा दी गयी, वह छूने के योग्य नहीं रह जाती; लेकिन दूसरी ओर उसकी रक्षा के लिए नाना प्रकार के हिंसक साधनों का उपयोग भी करते रहे हैं। बन्दूकधारी सिपाही भी पहरे पर रखे जाने लगे। एक ओर तो त्याग की यह उत्कृष्ट भावना कि मंदिर के उपकरणों को छूना भी पाप और दूसरी

ओर उनकी रक्षा की आसक्ति में हम इतना भी भूल गये कि उसके लिए साधन कैसे चाहिए। इस तरह हमारे त्याग की रक्षा हिंसा के बल पर की जाने लगी।

जिन लोगों ने मन्दिर-निर्माण की प्रथा डाली, वे कितने महान् थे ! उनकी सीख को मानकर जिन लोगों ने अपनी अर्जित कमाई में से लाखों रुपयों का दान करके देशभर में जो बड़े-बड़े मन्दिर खड़े कर दिये हैं, वे भी धन्यवाद के अधिकारी हैं। आज की नवशिक्षित पीढ़ी भले ही उन मन्दिरों में लगी रकम का उपहास उड़ाये और कहे कि अरबों रुपयों की राष्ट्रीय संपत्ति बेकार पड़ी है। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि हमारी संस्कृति में पैसे को उतना महत्त्व कभी नहीं दिया गया, जितना आज दिया जाता है। पैसा पुराने लोग भी कमाते थे, लेकिन उसके त्याग के महत्त्व को भी जानते थे और सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की साधना के लिए उसका सदुपयोग भी करते थे। हमारे देश के हजारों मन्दिर इस बात के जीवंत उदाहरण हैं कि भोग की अपेक्षा त्याग का आदर्श पूर्वजों के सामने था। आज हमारा जो सामाजिक जीवन है, वह इन मन्दिरों, शास्त्र-सभा, पूजा-उपासना पर ही आधारित है।

१६: ये स्त्रियाँ और ये पुरुष

एक संस्कृत के विचारक ने कहा है कि स्त्री का चरित्र और पुरुष का भाग्य कोई नहीं जान सकता। यह लिखनेवाला पुरुष था। अगर लिखनेवाली विदुषी होती, तो वह लिख सकती थी—पुरुष का चरित्र और स्त्री का भाग्य कोई नहीं जानता।

दोनों के भाग्य और दोनों के चरित्र पर, दुर्भाग्य और दुश्चरित्र पर भारतीय वाङ्मय में सहस्रों कथाएँ मिलती हैं।

भाग्य और चरित्र के मूल्य युग-युग में बदलते रहे हैं, आगे भी बदलते रहेंगे। एक जमाने में भाई-बहन ही पति-पत्नी बन जाते थे, और यह उस समय का नैसर्गिक विधान था। किसी जमाने में एक-एक पुरुष के लिए सहस्रों पत्नियों का विधान किया गया और सबसे गौरवशाली, महान् वह माना गया, जिसके पास सबसे अधिक पत्नियाँ हों, और यह संख्या ९६ हजार रानियों तक पहुँच गयी।

एक जमाना ऐसा भी आया कि जिसमें स्त्रियाँ अपने पति के साथ सती होना

अपना धर्म मानती थीं। किसीने कहा, वहाँ देवता रहते हैं, जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है और किसीने नारी को विष की बेल भी कह दिया।

समाज का ढाँचा परिस्थितियों के अनुरूप बनता-बिगड़ता है। हिमालय की तराई में आज भी बहु-पतित्व की प्रथा है। दक्षिण में आज भी मातृ-सत्ता चलती है। मतलब यह कि एक जमाने में जो धर्म माना गया, वह किसी दूसरे जमाने में अधर्म हो गया और जो अधर्म था, वह धर्म हो गया।

आज समाज का जो रूप है, उसमें एक पति और एक पत्नी आदर्श या धर्म माना जाता है। विधवा-विवाह के बारे में सुधारक वर्ग का कहना है कि वह धर्म तो नहीं है, किन्तु परिस्थिति विशेष में अधर्म भी नहीं है।

हम यहाँ पर कुछ ऐसे उदाहरण रखेंगे, जिनसे समाज सुधार की समस्या कितनी जटिल है, यह विदित होगा।

× × ×

एक दिन एक आदमी हमारे पास आया और बोला कि उसकी पत्नी अमुक आदमी के घर चली गयी है, अब लौटना नहीं चाहती।

मैंने उस आदमी को बुलाकर पूछा, तो उसने कहा कि सेठ जी, इसमें मेरा दोष नहीं है, वह खुद आयी है। मेरा तो उसे रखने का इरादा नहीं है। जाती हो तो जाय।

अब उस स्त्री से पूछने की बारी थी। उसने कहा, सेठजी, मैं अपनी वेदना कैसे बताऊँ। मेरा आदमी रोज दो-चार आदमी को लाता है, पुलिस मैनों को लाता है। और जबरदस्ती मुझ पर अत्याचार, बलात्कार कराता है। उसके इस अमानुषी अत्याचार से मैं तंग आ गयी हूँ। इसीसे सोचा कि किसी एक के साथ रहकर जीवन बिताना अच्छा है।

अब मैं क्या कहता।

मैंने पति-पत्नी दोनों को देहात में, खेती पर भेज दिया। सोचा कि अलग रहने से दोनों में प्रेम रहेगा और स्त्री भी बच जायगी। लेकिन वहाँ दूसरा ही कांड हो गया। खेती की देखरेख हमारे एक रिश्तेदार करते थे। वे अविवाहित थे। वे स्वयं ही उस स्त्री के जाल में फँस गये।

जब मुझे मालूम हुआ, तो मैंने अपने रिश्तेदार भाई से कहा कि तुम इससे

शादी कर लो। शादी से वे इनकार हो गये। शादी तो वे जाति के सिवा और कहीं करना नहीं चाहते थे।

आखिर एक सज्जन मेरे पास आये। ये शादी करना चाहते थे। मैंने उनसे सारी परिस्थिति बता दी। फिर भी वे राजी हो गये। उनकी शादी करा दी।

बरसों के बाद जब वे सज्जन मुझसे मिले, तो कहा कि आपके कारण मेरी शादी हो गयी, हम दोनों बड़े सुखी हैं। अनाचार या भ्रष्टाचार की कोई घटना नहीं घटी।

आज वे जीवित नहीं हैं, पर उनके संतान हैं, पास में कुछ पैसा भी है। परिवार की प्रतिष्ठा भी है।

जिसकी स्त्री को समाज ने पतिता कहा, वह सती निकली और जिन लोगों ने शादी से इनकार किया, वे दब्बू और व्यभिचारी। आज जो लोग जाति-मर्यादा की बात करते हैं, प्रस्ताव करते हैं, वे स्वयं इतने गिरे हुए होते हैं कि सिर लज्जा से झुक जाता है।

× × ×

हमारे एक तरुण कार्यकर्ता ने अन्तर्जातीय विवाह किया। विवाह कभी छिपकर नहीं होता। कार्यकर्ता पढ़ा-लिखा है। उसकी पत्नी भी पढ़ी-लिखी है। बारात में जाति के लोग भी शामिल हुए थे। प्रान्त और देशभर में पत्रिकाएँ गयीं। विवाह के बारह महीने बाद तक जातीय सभा या पंचायत की आँख नहीं खुली। आँख खोलना उन लोगों ने ठीक भी नहीं समझा, क्योंकि खतरा भी वे लोग देख रहे थे। कहीं उस कार्यकर्ता ने अदालत में घसीट लिया तो! बारह महीने बाद भी सभा-संचालकों ने कोई निर्णय नहीं किया और एक जाँच-कमेटी यह पता लगाने के लिए नियुक्त की कि विवाह हुआ है या नहीं।

और यह सभा इतना ही नहीं करती, यह भी करती है कि आप चाहे जैसा विवाह कर लीजिये, उसका आनन्द लूटिये, बाल-बच्चे पैदा कीजिये; लेकिन लिखकर दे दीजिये कि हमारा उस स्त्री से संबंध नहीं है, तो आपको जाति में ले लिया जायगा। आप निर्दोष करार दिये जायँगे।

जो सच्चा सुधारक होगा, वह इन खतरनाक लोगों और उनकी खतरनाक सभाओं से अवश्य बचेगा। वे खुल्लमखुल्ला कहते हैं—घर में रखने का दोष नहीं, शादी करना ही पाप है।

× × ×

एक समाज-सुधारक भाई अपने रिश्ते की किसी विधवा बहन को लेकर आये। कहा कि इसका विवाह कहीं करा दीजिये। वह बहुत सुन्दर थी, लेकिन विधवा जो थी! आखिर एक भाई मिले। उनसे विवाह करा दिया गया। वे एक मिल में काम करने लगे।

मिल के अस्पताल में एक नर्स से उनका प्रेम हो गया। नर्स से प्रेम हो गया, तो पत्नी से दिल का हट जाना स्वाभाविक था। पत्नी को यह बरदाश्त नहीं हुआ। उसने परिचितों में अपनी शिकायत रखी। लेकिन परिणाम क्या होता। पति ने पत्नी पर लांछन लगाये। उसे दुश्चरित्रा कहा।

वह बेचारी गरीबी में समय गुजारती रही। दो लड़कियों का भार भी उस पर पड़ गया था। कुछ पढ़ी-लिखी थी। एक जगह कन्या-शाला में अध्यापकी मिल गयी। पेट पालने लगी।

कुछ समय बाद उसके पिता का देहान्त हो गया। पिता की कुछ संपत्ति उसे मिल गयी। उससे उसे कुछ व्याज की आय होने लगी। एक मकान भी बना लिया। आज वह अपनी लड़कियों सहित खा-पीकर सुखी है।

लेकिन जिसको प्रेम का, रूप का आकर्षण होता है, उसे पैसे का भी होता है। अब उसका पति कहने लगा कि यह मकान कहाँ से बना? यह सारा पैसा उसीकी कमाई का है। वह परित्यक्ता पत्नी भी उसकी, उसके पिता का धन भी उसीका, मकान भी उसीका! धमकियाँ दी जाने लगीं।

एक बार उसने अपने पति पर अदालत में मुकदमा भी किया था कि उसके उदर-निर्वाह की व्यवस्था हो। अदालत ने २५ रुपया मासिक का फैसला दे दिया। किन्तु यह समाज कानून और नैतिकता की परवाह कब करता है। आज वही पति सिद्ध करना चाहता है कि उसकी पत्नी के पास जो कुछ सम्पत्ति है, वह उसीकी अर्जित है। क्या उसने उसे लांछित करने में कसर रखी थी? जिन लोगोंने उस बेचारी के प्रति सहानुभूति बतायी, उन्हींको उस पति ने लांछित किया।

और यह घटना हमें बताती है कि समाज कहाँ खड़ा है—पति और पत्नी दोनों में से किसी पर भी उसका नियंत्रण नहीं, दोनों की उसे परवाह नहीं, दोनों के प्रति उसकी कोई जवाबदारी नहीं—फिर भी समाज का हर प्राणी आँख उठाकर देखने को तैयार।

जो नर्स है, वह भी समाज का एक अंग है; जो पति है, वह भी समाज की इकाई है। पर समाज तब तक नहीं देखता, जब तक परंपरा में बाधा न आवे। क्या कोई भला आदमी कह सकता है कि नर्स का अपराध कम है? क्या वह समाज की व्यवस्था में विघ्न डालनेवाली अपराधिनी नहीं है और उसकी पत्नी ने अपने भरण-पोषण के लिए २५ रुपया की डिकरी करवा ली, तो क्या गुनाह किया था?

× × ×

अब यह भी एक घटना लीजिये।

रिश्ते में हमारे एक काका मर गये। उनकी विधवा पत्नी अपने को संयम से रख पाने में असमर्थ थी। सुना कि दो बार भ्रूण हत्याएँ भी हो गयीं। ये भ्रूण हत्याएँ उन लोगों से हुईं, जो विधवा-विवाह और अन्तर्जातीय विवाह को फूटी आँखों भी नहीं पसन्द करते।

इस तरह के पाप की अपेक्षा मैंने यह उचित समझा कि उसका किसी एक के साथ विवाह कर देना ठीक होगा। किसीने सुझाव दिया कि हमारी खेती पर जो एक जातीय भाई काम करते हैं, उन्हींसे विवाह कर दिया जाय। वह भी राजी हो गये। विवाह कर दिया।

इधर इससे विवाह हुआ, लेकिन उधर देहात में एक दूसरी स्त्री से उसका प्रेम-संबंध भी था। लोगों को इसका पहले पता न था। जब इस विवाहित पत्नी ने आक्षेप किया, तो वह अपनी प्रेमिका को शहर छोड़ गया। शहर में खेती के काम-काज से आता, तब उसके यहाँ भी जाता। उसके बाल-बच्चे भी होते रहे। इस पत्नी से भी दो लड़कियाँ हुईं।

खेती के काम की ओर दुर्लक्ष्य होने लगा और बहुत सारी चीजें गायब होने लगीं। धीरे-धीरे पता चला कि ये चीजें वह अपनी प्रेमिकाके यहाँ पहुँचाता है।

पत्नी तो नाराज थी ही, हम लोग भी इस चीज को बरदाश्त नहीं कर सकते थे। उस पर अनेक प्रकार के बन्धन डाले गये, लेकिन प्रेम अन्धा जो होता है।

धीरे-धीरे वह दमे का शिकार हो गया। दोनों वृद्ध हो चले। बरसों तक खेती पर काम करने के कारण हमारे परिवार के सदस्य-जैसे हो गये।

मैं दोनों से बराबर कहता कि हमसे संबंध मत रखो। लेकिन वे क्यों मानने

लगे। लड़कों को यह सब बरदाश्त न होता था। सब मुझे ही कहते कि यह विवाह कराकर मैंने आफत मोल ली। मैं अपनी नैतिक जवाबदारी को समझता था।

विवाह मैंने कराया था। अगर यह असफल हो जाता है, तो फिर सुधारक किस मुँह से अपनी बात रख सकेंगे ?

दोनों लड़कियों के विवाह भी मैंने करवा दिये। आज दोनों में से एक का देहांत हो गया है।

आज भी दोनों हैं, रहते हैं।

उसकी जो लड़की मर गयी है, उसके पति ने समाज को सभा को लिखकर दे दिया कि उसने विवाह करके गलती की थी, उसे इसका पश्चात्ताप है। उसकी प्रार्थना है कि उसे सभा में, जाति में फिर से शामिल कर लिया जाय।

चूँकि उसने अब थोड़ा पैसा भी कमा लिया है और अपने रिश्ते की एक बहन वह सभा के मंत्री के भतीजे को देने का प्रलोभन दे चुका है, इसलिए मंत्री महोदय ने अपने जैसे दकियानूसी विचारकों की सलाह से उसे जाति में ले लिया और यह शर्त लगा दी कि वह तीर्थराज, सम्मेद शिखर की यात्रा करके आये। सबसे बड़ी शर्त यह रखी गयी कि वह अपने लड़कों का विवाह उस जाति में नहीं कर सकेगा।

सभा के सभापति से जब किसीने प्रश्न किया, तो जवाब मिला कि—अजी, लड़के जायेंगे कहाँ, लेकिन आज तो जाति-मर्यादा के लिए हमें ऐसा करना ही पड़ा।

अब पाठक सोचें कि यह जाति-मर्यादा क्या है और व्यक्ति-मर्यादा क्या है ?

जो अपनी स्त्री के मरने पर सास-ससुर को अपने यहाँ रखने से इनकार कर देता है, जो जीवनभर किसी एक के साथ रहकर भी उसे गलती मानता है—क्या उसकी भी कोई मर्यादा है ? अगर वह न मरती, तो क्या वह उसे गलती मानता ? कानून उसे गलती मानने देता ? और जब उसने विवाह किया था, तब क्या यह कहा था कि मैं गलती कर रहा हूँ। तब तो उसने यही कहा था कि वह सुधारक है, क्रान्ति की ओर कदम रख रहा है।

क्या ऐसे आदमी का भी कभी विश्वास किया जा सकता है ? लेकिन हाँ,

किया जाता है। और उस समाज में किया जाता है, जो समस्त गुणों को ताक में रखकर जाति-मर्यादा का दम भरता है।

और यह जाति-मर्यादा भी किस चिड़िया का नाम है? घर में रहकर कोई कितना ही अनाचार, व्यभिचार, दुराचार करता रहे, शराबी हो, जुआरी हो, मिथ्याभाषी हो, चोर हो, चाहे जो हो—किन्तु जो केवल अन्य जाति में विवाह नहीं करता, तो मान लिया जाता है कि जाति की मर्यादा की रक्षा हो गयी। और हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि ऐसे ही बहुत से लोग सभाओं के, समाज के कर्णधार कहलाते हैं।

१७. हत्या के कगार पर

उस समय मैं सात वर्ष का था। नानाजी के यहाँ पढ़ने के लिए भेज दिया गया था। एक दिन नानाजी का अचानक देहांत हो गया। उम्र उनकी ८५ वर्ष की थी। उनकी मृत्यु अफीम खाने से हुई थी, इस बात की लोगों में काफी चर्चा थी। कोई कहते थे कि उन पर कर्ज हो गया था, इसलिए मर गये; कोई और कुछ कहते थे।

मेरे मामाजी की पहली पत्नी का देहांत हो गया था। उन्होंने दूसरा विवाह बड़ी उम्र में किया। विवाह के थोड़े दिन बाद ही वे चल बसे। उनकी पत्नी जवान थी। इतना मुझे याद है कि मामीजी मुझे बड़े प्यार से रखती थी। खिलाती-पिलाती थीं। एक दिन गाँव के पंच लोग आपस में कानाफूसी करने लगे। रात को बैलगाड़ी मँगाकर मामीजी को उसमें बैठाकर ले चले। मैं नहीं जानता था कि यह क्या हो रहा है। मुझे इतना ही मालूम हो सका कि मामीजी चली गयी हैं। यह घटना लगभग ५५ वर्ष पहले की है।

यह घटना आयी-गयी हो गयी। मामीजी का कहीं पता नहीं चला। किसीने जानने की कोशिश भी नहीं की। एक दिन मैं एक संस्था में गया। संस्था आर्यसमाज द्वारा संचालित थी। मैं वहाँ एक लड़के को भरती कराने ले गया था। वहाँ पहुँचकर व्यवस्थापिकाजी से मिला। उनसे बातचीत की।

उन्होंने पूछा, 'कहिये, क्या बात है?'

मैं बोला, 'मैं इसको यहाँ रखने आया हूँ। इसका बाप मर गया है। स्थिति खराब है।'

वे बोलीं, 'आप कहाँ के रहनेवाले हैं ?'

मैं बोला, 'मैं मारवाड़ में जयपुर जिले का रहनेवाला हूँ।'

वे बोलीं, 'किस गाँव के हैं ?'

मैं बोला, 'उग्रास का हूँ।'

वे बोलीं, 'आप कौन हैं ?'

मैं बोला, 'मैं सरावगी हूँ।'

वे बोलीं, 'यहाँ सरावगियों का क्या काम ? आप जैन-समाज की संस्था में ले जाइये।'

मैं बोला, 'जी, आपका कहना ठीक है; पर मैं वहाँ गया था। उनके यहाँ गुंजाइश नहीं है। आप रख लें।'

फिर वे अचानक पूछ बैठीं, 'अच्छा, तो आप उग्रास के हैं ! चिरंजीलाल बड़जात्या को जानते हैं ?'

मैं अब क्या बोलता ! 'जी, मैं ही चिरंजीलाल हूँ !'

इतना सुनते ही वे मेरा हाथ पकड़कर भीतर अपने कमरे में ले गयी और छाती से चिपकाकर खूब रोयीं। रो चुकने पर उन्होंने अपनी आपबीती सुनायी।

बोलीं, 'देख चिरंजीलाल, अब तो समय बीत ही रहा है ! बूढ़ी हो चली हूँ, आँखों से भी कम दिखाई देता है ! मुझ पर आर्यसमाज का बड़ा उपकार है ! यह तो शायद तुमको याद होगा कि लोग मुझको बैलगाड़ी में बैठाकर ले गये थे।

मेरी पुरानी स्मृतियाँ आँखों के सामने नाचने लगीं। मैंने कहा, 'हाँ, इतना ही मुझे याद है !'

फिर वे कहती रहीं, 'बैलगाड़ी में वे लोग मुझे एक कुएँ पर ले गये। रात का समय था। कुएँ पर पहुँचकर मुझे मालूम हुआ कि वे मुझे कुएँ में गिराना चाहते हैं। मैं काँप गयी ! मैं गर्भवती भी थी ! चिरंजीलाल, यह समाज बड़ा विचित्र है ! तुमको शायद याद हो, मकान के बगल में एक व्यक्ति रहते थे। वे रिश्ते में मेरे जेठ होते थे। उनकी मुझ पर आँख थी और उन्होंने मुझे अपने जाल में फँसा लिया। गर्भ रह गया। इसीकी हाय खाकर तुम्हारे नानाजी मर गये। बाद में लोग अपनी इज्जत बचाने के लिए मुझे कुएँ में गिराना चाहते थे।

'मैंने उनसे कहा कि आप मुझे कुएँ में क्यों गिराते हैं, कहीं छोड़ दीजिये

सौगंध खाती हूँ कि फिर इस गाँव की सीमा में पैर नहीं रखूँगी। आखिर वे लोग जैनी ही थे। उनको दया आ गयी और उन्होंने मुझे ......स्टेशन पर छोड़ दिया। स्टेशन बहुत बड़ा था। मैं वहाँ अकेली बैठकर विलाप कर रही थी। इतने में वहाँ से ....सज्जन गुजरे। उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। एक असहाय अबला को विलाप करती देख उनका मन द्रवित हो गया। मैं कहीं किसी गैर-धर्मी या म्लेच्छ के हाथ न पड़ जाऊँ, इसलिए वे मुझे घर ले गये। ......समाज के द्वारा मेरी सार-संभाल की। मेरे एक कन्या हुई। उस समाज ने मुझे और मेरी लड़की को पढ़ाया। लड़की एम० ए० हो गयी है। मैं भी पढ़-लिखकर इस संस्था को देखती हूँ!'

आगे वे बोलती गयीं, 'यहाँ मुझे काफी आराम है। लड़की की शादी वगैरह कर दी। उसके भी लड़के-बच्चे हैं और सुख से हैं। कल तुम मेरे मकान पर आना।'

दूसरे दिन मैं उनके मकान पर गया। मकान अच्छा था। उनकी पुत्री ने मीरां का भजन गाया। बड़े प्रेम और श्रद्धा से मैंने मिष्टान्न भोजन किया।

मामीजी का यह दर्शन अब से लगभग २० वर्ष पहले यानी बचपन की उस घटना के लगभग ३५ वर्ष बाद किया। मेरे सामने समाज का नक्शा खिंच गया। फिल्म की तरह एक के बाद एक चित्र मेरे सामने उभरने लगे! मैं क्या सोचता? सोचने और करने की राह तो एक ही है, अगर सीधी तरह सोचा जाय और कुछ किया जाय! रूढ़ियों और संस्कारों के वश होकर समाज अपने सिद्धांतों तथा विवेक-बुद्धि को किस तरह तिलांजलि दे सकता है, यह इस घटना से स्पष्ट है!

मामीजी को मैंने पूज्य बापूजी तथा सेठ जमनालालजी से मिलाया। सारी घटना सुनकर जमनालालजी द्रवित हो उठे। उन्होंने मुझसे कहा था कि किसी प्रकार की मदद की जरूरत हो, तो कहना।

उनकी लड़की मेरी बहन ही लगती थी। जब तक वह जीवित रही, मैं उनके यहाँ बराबर आता-जाता रहा। यह बड़े अचरज की बात है कि जिस दिन मेरी पुत्री राजमती का स्वर्गवास हुआ, उसी दिन मामाजी की पुत्री का भी स्वर्गवास हुआ। यह भी मुझे मालूम हुआ कि जिस दिन राजमती को क्षय हुआ था, उसी दिन उसको भी क्षय ने पकड़ लिया था। पूर्वजन्म और पूर्वसंस्कारों की यह कैसी ममता और एकात्मता है!

उनका उपकार

[चिरंजीलाल बड़जाते]

[श्री चिरंजीलालजी ने यह वक्तव्य दो वर्ष पूर्व अपने परिचितों तथा मित्रों में वितरित किया था। वास्तव में यह वक्तव्य उनके हार्दिक उद्गारों से भरा है—एक-एक शब्द मर्म से भरा है। शब्द-छटा और शब्द-छल से दूर यह वक्तव्य हृदय की सफाई का प्रतिबिंब है।]

सेठ जमनालालजी बजाज का संबंध मेरे साथ करीब ३५ साल से रहा। सन् १९१५ में जब मैं गोद आया, तभी से। उस समय सेठजी जेठमलजी बड़जाते फर्म के ट्रस्टी थे और उन्होंने ही मुझे जेठमल बड़जाते के नाम पर गोद लिया था। मैं नाजुक स्वभाव का था। भूत-प्रेत, जादू टोने, मंत्र-तंत्र आदि पर मेरा विश्वास था और मैं डरता भी बहुत था। उन्होंने मेरे अन्दर से डर निकालने का प्रयत्न किया और १९२३ में नागपुर-झंडा-सत्याग्रह में जेल भेज दिया, जिससे मुझमें हिम्मत आयी और मेरा डरपोकपन जाता रहा।

मैं पहले मखमल व रेशमी विलायती कपड़े पहना करता था। सेठजी की प्रेरणा से मैंने विदेशी वस्त्रों को त्याग स्वदेशी को अपनाया और शुद्ध खादी पहनना शुरू किया। सादगी से रहने की आदत तभी से पड़ गयी।

मैं पहले बहुत ही कट्टरपंथी जैन था। सेठजी की वजह से नयी विचार-धाराओं में ढला और सब धर्मों को आदर की दृष्टि से देखने लगा। विधवा-विवाह, जात-पाँत तोड़ना, मरण-भोज बन्द करना, पर्दा-प्रथा का उठाना आदि आदि कार्यों को करने और प्रचार में योग देने लगा।

नागपुर-कांग्रेस की स्वागतकारिणी के सेठजी अध्यक्ष बने। मैं कांग्रेस के कार्य में १९१८ से भाग लेता था, पर इसके बाद कांग्रेस-संगठन में लग गया। महात्मा गांधी के सन् १९२१ के असहयोग-आन्दोलन में सेठजी ने बहुत काम किया तथा उनकी ही आज्ञा से मैं भी यह काम उत्साहपूर्वक करने लगा।

१६२७ में मैं गरीब बन गया। करीब एक लाख रुपये की उधारी अदालत में नालिश न करने से डूब गयी। करीब उतना ही रुपया कांग्रेस तथा सामाजिक कार्यों में मैंने अपना खर्च कर दिया। कांग्रेस तथा सामाजिक कामों में लगे रहने के कारण व्यापार दूसरों के भरोसे चलता रहा, इसलिए उसमें काफी घाटा आया। एक लाख का मुझ पर कर्ज हो गया। मेरे मित्र, कुटुम्बी तथा अन्य सम्बन्धी मुझे दिवालिया बनने की सलाह देने लगे, परंतु सेठजी ने मुझे हिम्मत बँधायी और दिवालिया न बनने दिया। मेरी जायजाद बिकवाकर सबका पाई-पाई कर्ज चुकवा दिया। पचीस हजार रुपये अपने पास से कर्ज दिये, जो आगे चलकर मैंने चुकवा दिये। यदि मेरा कर्ज न चुकता, तो मैं सार्वजनिक सेवा के योग्य न रहता।

सेठजी की प्रेरणा से १६२७ में हरिजन-आंदोलन में कुएँ और मंदिर खुलवाने के काम में लग गया। उस समय जातिवालों ने मुझे जातबाहर कर दिया। मेरी माँ जब मंदिर जाती, तो समाजवाले उस पर ताना कसते और कहते कि यह ढेड़नी (चमारनी) मंदिर में आयी है। मुझे वे लोग ढेड़ कहकर संबोधित करते। सेठजी को यह मालूम हुआ, तो उन्होंने मेरी माँ को बहुत समझाया और हिम्मत बँधायी। मेरी माँ में सहनशीलता और धीरज आये, इस दृष्टि से एकनाथ, संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि के नाटक मंदिर में करवाकार दिखाये, जिससे मालूम हो कि पहले भी संत पुरुषों को कितना दुःख समाज की ओर से सहना पड़ा था।

सेठजी के उपकार की बात कहाँ तक कहूँ? मैं अधिक पढ़ा-लिखा नहीं था। पचीस रुपये पर भी शायद ही कोई मुझे नौकर रखता। सेठजी ने मुझे सौ रुपया मासिक देकर मेरा हौसला बढ़ाया, काम सिखाकर और सौंपकर मुझमें आत्मविश्वास पैदा किया और व्यावहारिक कार्यों में होशियार बनाकर धीरे-धीरे इस योग्य बना दिया कि मैं अपने पैरों पर अच्छी तरह से खड़ा हो सकूँ। आगे चलकर पाँच सौ रुपये मुझे मिलने लगे और मैं चार-पाँच कंपनियों का काम देखने लगा।

सेठजी ने सेवाग्राम का काम मुझे सौंपा और सबसे पहले मुझे मकान बनवाने का काम दिया। गांधीजी सेवाग्राम में घनघोर पानी बरसते हुए भी दिये

हुए ठीक समयपर पहुँचे। मेरा गांधीजी के साथ जो सम्पर्क आया, वह जमनालालजी के कारण ही आया।

मेरी बड़ी पुत्री राजमती पर तो उनका बड़ा स्नेह था। उन्होंने उसे महिलाश्रम में भरती करवा दिया था, जहाँ वह स्वावलंबन की शिक्षा पाती रही। वह पाखाना भी अपने हाथों साफ करती थी। वह राष्ट्रीय प्रवृत्तियों में भाग भी लेती रही और छह माह की सजा भी भुगत चुकी थी।

मेरी माँ की ७५०० रुपयों की संपत्ति का उन्होंने एक ट्रस्ट बना दिया था, जिसका मूल्य उनके जीवन-काल में ही ८०००० रुपये हो गया था। उसी संपत्ति से तथा खेती का काम करने से घर का खर्च भी चला और कुछ सेवा भी बन पड़ी।

मुझमें अनेक दोष थे। सेठजी के सत्संग से मेरा जीवन सुधरा। सेठजी समय-समय पर मुझे अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपते थे। श्री राजेन्द्रबाबू की जायदाद सँभालने तथा उनके कर्ज को चुकाने की व्यवस्था करने के लिए मुझे जीरादेई तथा छपरा आदि स्थानों पर भेजा था। उस समय श्री राजेन्द्रबाबू तो सेवा के कामों में लगे हुए थे और इनके भाई बहुत उदार थे। कुछ इलेक्ट्रिक के काम में रकम फँस गयी थी। इसलिए उन पर कर्ज हो गया था। इस काम को सुलझाने के लिए सेठजी ने मुझे भेजा और सेठजी के मार्गदर्शन और सलाह से मैंने वह काम पूरा किया।

सेठजी को खेती के काम में बड़ी रुचि थी। उन्होंने बच्छराज खेती लि० नाम से एक कंपनी खोली, जिसका मुझे मैनेजिंग डाइरेक्टर बनाया। अपने स्वर्गवास से १ वर्ष पहले, जब कि सेठजी ने रेल में बैठना छोड़ दिया था, बैलगाड़ी में बैठकर दस-बारह गाँवों का उन्होंने भ्रमण किया और कंपनी की खेतीबाड़ी तथा गाय-बैल आदि देखकर बहुत प्रसन्न हुए। मृत्यु के आठ दिन पहले उन्होंने मुझे बुलवाया और कहा कि तुम कमलनयन की नौकरी छोड़कर गो-सेवा के कार्य में लग जाओ। परन्तु इसके साथ उन्होंने एक कड़ी शर्त लगायी और वह यह थी कि घरबार के साथ मेरा कोई संबंध न रहे, मैं पैसा कमाना छोड़ दूँ और जैन मुनियों की तरह रहूँ। मैं कभी हिम्मत करता, तो कभी अपनी कमजोरी देख-

कर डर जाता। एक दिन सेठजी मेरे घर आये और दाल-बाटी की रसोई बन-वायी। भोजन कर चुकने के बाद मेरी पत्नी से कहा कि तू चिरंजीलाल को मेरे सुपुर्द कर दे और हमेशा के लिए उससे सम्बन्ध छोड़ दे। मेरी धर्मपत्नी ने अपनी लाचारी बतायी और माफी माँगी। उनकी यह बात हमें आज भी याद आ जाती है। पर आज भी वैसा करने की हिम्मत नहीं होती।

सेठजी ने सत्य और अहिंसा को व्यवहार में उतारा और अपने जीवन से दूसरों पर असर डाला। मैंने हजारों साधु-सन्तों, मठों और तीर्थों के दर्शन किये हैं। पर मेरा जीवन सेठजी के कारण ही सुधरा और सुखी बना। उन्हींकी प्रेरणा से मैं दो बार जेल गया और अनेक सार्वजनिक कार्य करने के मुझे अवसर मिले। आज भी जीवन में कभी कोई गलती होने लगती है, तो झट उनकी मूर्ति सामने आ खड़ी होती है और मुझे बचा लेती है। उन्हींकी प्रेरणा थी कि मुझसे अपनी संपत्ति के गो-सेवा और विद्यार्थियों के लिए ट्रस्ट हुए।

६ अक्तूबर को ६३ साल पूरे करके ६४वें साल में प्रवेश कर रहा हूँ। आज इस पवित्र अवसर पर पू० सेठजी, श्रीकृष्णदासजी जाजू और मेरी माता सुगणादेवी के उपकारों का स्मरण करता हूँ, क्योंकि इन्होंने मेरे जीवन और व्यक्तित्व को बनाया। मैंने जो कुछ उनसे पाया था, उनके ऋण को चुकाने के लिए सेवा-कार्य में लगा हुआ हूँ। अब शरीर और इंद्रियाँ कमजोर हो जाने से मुझसे ज्यादा सेवा तो बन नहीं पड़ती, पर शुद्ध भावना रखकर जैन-धर्म के सभी संप्रदायों में एकता बढ़ाने तथा अतिथि-सेवा का काम ही कर पाता हूँ। आज भी इस उम्र में मुझमें सत्संग, तीर्थयात्रा तथा मंडल के काम के लिए घूमने में युवकों से भी बढ़कर उमंग है, पर आँखें और कान पहले की तरह काम नहीं करते। स्मृति भी कम होने लगी है।

पू० सेठजी की इच्छा के अनुसार मैं सर्वसंगपरित्याग कर संपूर्ण रूप से सेवा-कार्य में तो नहीं लग पाया, पर भाई रिषभदासजी के कारण मैंने नौकरी छोड़-कर निवृत्ति ली। पैसा कमाना छूटा, पर खर्चे की आदतें सुधर नहीं सकीं, जिन्हें सुधारने की कोशिश में हूँ। फिर भी एकदम तो छूट नहीं सकतीं। पर सेठजी के सुपुत्र कमलनयनजी, रामकृष्णजी तथा उनके कुटुंबियों के प्रेम और आत्मीयता के

कारण मेरा काम चल जाता है। इतना ही नहीं, वे तो मेरा जीवन सुखी बनाने का पूरा ध्यान रखते हैं।

आचार्य तुलसीजी के कारण परिग्रह-परिमाण-व्रत लेकर २० हजार की सीमा बाँध ली है। लोगों को अब भी मुझसे सेवा-सहायता की बहुत अपेक्षा रहती है, पर मेरी लाचारी है, मैं अधिक कर नहीं पाता। मेरी यही कामना है कि सेठजी, जाजूजी और माताजी का स्मरण मुझे बल दे और मेरा अन्तिम जीवन शुद्ध, पवित्र और दूसरों के उपयोग में आनेवाला बने। मेरे मित्रों, आत्मीय स्वजनों से प्रार्थना है कि मेरा जीवन सफल बनाने में सहायता दें और कहीं भूल होती हो, तो उसे बतायें, जिससे कि मैं निर्दोष बन सकूँ।

काशी में तीस दिन

[चिरंजीलाल बड़जाते]

इधर साढ़े पाँच वर्ष से भाई जमनालाल बनारस रहने लगे हैं। अखिल भारत सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन का मुख्य कार्यालय बनारस आ जाने के कारण सन् '५५ में उनको भी बनारस आ जाना पड़ा। उन्होंने कई बार आग्रह किया कि मैं एक बार बनारस आऊँ। पहली बार ता० ८ मार्च '५६ को मैं बनारस पहुँचा और २६ मार्च '५२ तक रहा। दूसरी बार अभी ता० ११ अगस्त '६० को बनारस पहुँचा और ता० २१ अगस्त तक, १० दिन रहा। तब मैं प्राकृतिक उपचार करवा रहा था। बनारस पहुँचने से पूर्व पवनार (वर्धा) में डॉ० रेड्डीजी की देखरेख में ५२ दिनों तक जल और फलाहार पर रहा। बनारस पहुँचने पर भी मैंने नमक, चीनी और घी का परहेज रखा।

जमनालालजी का लगभग तीन-चार वर्ष से आग्रह था कि मैं अपने संस्मरण लिखवा दूँ। श्री रिषभदासजी रांका और जमनालालजी दोनों ही बार-बार जोर डालते थे। मेरा इरादा ऐसा कुछ नहीं था, मैं साहित्यिक भी नहीं हूँ। मैं टालता रहा। लेकिन इन दोनों के बार-बार कहने से मैं भी राजी हो गया और सोचा कि चलो, बनारस में कुछ नोट करा दिया जायगा। लगभग तीस वर्ष तक मुझे स्व० जमनालालजी बजाज के सान्निध्य में उनकी सेवा में रहने का सद्भाग्य मिला है और उन्हींकी कृपा से बड़े-बड़े कार्यों में पड़ा हूँ, देश के नेताओं से संबंध आया है और उन्हींकी कृपा से जीने की कला हाथ लगी है।

लेकिन बनारस आने का मेरा उद्देश्य केवल यही नहीं था। जमनालाल के साथ दस-पाँच दिन रहने, बाल-बच्चों को देखने की इच्छा से ही मैं बनारस आया था। मुझे यह कहते हुए बड़ी खुशी होती है कि बनारस के ये तीस दिन मेरे लिए बड़े महत्त्वपूर्ण रहे।

जमनालालजी गंगा के किनारे रहते हैं। जिधर देखो, उधर गंगा-ही-गंगा

दीखती है। मकान के नीचे पक्का घाट है, जिसका नाम प्रह्लाद घाट है। पहली मर्तबा तो मैं रोज ही गंगा-स्नान करता था। इसके लिए मुझे नित्य प्रति अस्सी-नब्बे सीढ़ियों पर चढ़ना-उतरना पड़ता था। यह मेरे लिए बढ़िया व्यायाम था। दो मील चलना या इन सीढ़ियों पर चढ़ना-उतरना बराबर था। नजदीक ही काशी स्टेशन है, उसीके पास उत्तर भारत का पूरब-पश्चिम को जोड़नेवाला महाकाय सुविस्तृत पुल है, जो लगभग एक मील लम्बा है। नीचे रेल चलती है और ऊपर जनता तथा मोटर आदि। इस पर भी कभी-कभी घूमने जाया करता था।

धर्म का तो काशी एक प्रकार से गढ़ ही है। जैनों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की जन्म-नगरी है। कबीर ने भी यहीं उपदेश किया था। तुलसीदासजी ने भी अपना अमर रामचरितमानस यहीं रचा था। तुलसीदासजी का स्मारक जमनालालजी के मकान के पास ही है। स्मारक में तुलसीदासजी की बड़ी मनोरम और भव्य मूर्ति है। वहाँ भी भजन आदि होते रहते हैं। स्मारक के सामने एक बड़ा-सा चबूतरा है, जो खँडहर के रूप में पड़ा है। अगर उस पर फर्श हो जाय और रेलिंग लग जाय, तो दो-ढाई सौ लोगों के बैठने की सुन्दर जगह बन सकती है। मोहल्लेवालों तथा म्युनिसिपल कमेटी को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

बनारस में जैनों की तीन-चार संस्थाएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। स्याद्वाद विद्यालय अपनी कोटि का एक ही विद्यालय है। आज तक सैकड़ों विद्वान् उसने दिये हैं, जो समाज और देश की सेवा कर रहे हैं। पार्श्वनाथ विद्याश्रम युनिवर्सिटी के नजदीक है, जो जैन-दर्शन के अभ्यासी छात्रों को आर्थिक सहायता प्रदान करता है और जैन-साहित्य के अन्वेषण, संशोधन की प्रेरणा देता है। वर्णी ग्रंथमाला का संचालन पं० फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री करते हैं, जो जैन-समाज के माने हुए विद्वानों में हैं। वैसे ही सन्मति जैन निकेतन भी युनिवर्सिटी में पढ़नेवाले छात्रों के लिए बढ़िया स्थान है, जिसमें साहू शांतिप्रसादजी तथा बाबू धर्मचन्दजी सरावगी आदि सज्जनों का विशेष हाथ है। पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य का निधन बनारस के जैन-समाज में एक अपूरणीय क्षति है। पहली बार आया था, तब तो उनसे मिला ही था। पिछले वर्ष उनका निधन हो गया। बड़े कर्मठ और अध्य-

वसायी थे। स्वतंत्र चिंतक थे। मुझसे उन्होंने कहा था कि आप आइये, ५-१० रोज मेरे पास रहिये। आपको जैन-दर्शन समझाऊँगा! विधि का विधान बड़ा विचित्र होता है।

राजघाट और चौक के बीच में, मैदागिन नामक स्थान पर एक विशाल जैन मंदिर तथा धर्मशाला है। यह धर्मशाला शहर के मौके पर बनी है। सड़क पर ऐसा सुन्दर स्थान चुनने के लिए पूर्वजों का जितना आभार माना जाय, कम है। सम्मेद शिखर, पावापुरी, चंपापुरी, राजगृह आदि के यात्रियों के लिए बनारस मध्य-वर्ती स्थान है। और वह धर्मशाला उनके लिए बड़ी सुन्दर है। मैं मंदिर में दर्शन के लिए रोज जाता था, एक भी दिन इसमें नहीं चूका। वहाँ रोज शास्त्र-सभा होती है, भजन-नृत्य आदि भी होते रहे। अनेक स्थानों के यात्रियों से भी परिचय हुआ, कुछ परिचित भी मिले। खेद है कि इस बार रोज मन्दिर नहीं जा सका। इस बार तबीयत थोड़ी नरम रही।

सारनाथ भी गया। सारनाथ बौद्धों का तीर्थस्थान है। बौद्ध परिभाषा में उसे ऋषिपत्तन कहते हैं। कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने पहला उपदेश वहीं पर किया था। एक बड़ा भारी स्तूप है। दो बौद्ध मन्दिर हैं। एक कॉलेज है। दवा-खाना है। प्राइमरी पाठशाला, पुस्तकालय, बिड़लाजी की बनवायी हुई विशाल धर्मशाला है। डाकघर भी है। जो सबसे बड़ा बौद्ध मन्दिर है, उसे मूलगंध कुटी कहते हैं। उसकी दीवारों पर जापानी कलाकारों द्वारा भगवान् बुद्ध के जीवन की घटनाएँ चित्रित हैं। चित्र बड़े भावपूर्ण और आकर्षक हैं। चित्रकार ने लिखा है कि यह काम भगवान् बुद्ध की कृपा से ही सम्पन्न हो सका है। एक बौद्ध मन्दिर चीनी भक्तों द्वारा बनवाया हुआ है। उसमें भगवान् बुद्ध की मूर्ति चीनी कला का प्रतीक है। दीवारों पर बुद्ध की जीवन-घटनाओं के फोटो टाँगे गये हैं, जो परि-चय देते हैं। कला और संस्कृति पर देश और काल की कितनी छाप पड़ती है! हमारी भारतीय संस्कृति तो एक प्रकार का महासमुद्र है।

सारनाथ में एक जैन मन्दिर है। जैन-मन्दिर स्तूप के पास ऊँचे स्थान पर बना है। बड़ा ही भव्य मंदिर है। उसके चारों तरफ ऊँचा परकोटा है, बीच में विशाल आँगन है तथा बगीचा भी है। वेदी एक ही है, जिसमें ग्यारहवें

तीर्थंकर श्रेयांसनाथजी की प्रतिमा विराजित है। जैनी लोग सारनाथ को सिंहपुर कहते हैं और कहा जाता है कि यह भगवान् श्रेयांसनाथ का जन्मस्थान है। दीवारों पर अनेक मुनियों और तीर्थस्थानों के चित्र हैं।

सारनाथ के ये तीनों मन्दिर अपनी शान के निराले हैं। सादगी, स्वच्छता और शांति तो वहाँ कण-कण में है। किसी भी मन्दिर में घण्टों बैठकर चिंतन करने की इच्छा होती है। देश में अगर ऐसे आदर्श मन्दिरों का निर्माण हो, तो वह संस्कृति के लिए बड़ा उपकार होगा। सारनाथ में ही भाई जमनालालजी के ससुर श्री कस्तूरचन्दजी रहते हैं, जहाँ वे दूकान करते हैं।

सारनाथ का अब काफी विकास हो गया है। सरकार ने सड़कें काफी चौड़ी बना दी हैं, बिजली भी पहुँच गयी है, तीन ट्यूब वेल-नलकूप बन गये हैं। स्टेशन भी नया बना है। सारनाथ में सरकार ने काफी खर्च किया है। लेकिन दूसरी ओर जैन धर्मशाला अधूरी पड़ी है। इधर साहू शांतिप्रसादजी ने काफी रुपया लगाकर जैन मंदिर और धर्मशाला में बिजली, बिछायत आदि का इन्तजाम कर दिया है। कुएँ पर भी पंप बैठा दिया है। लेकिन फिर भी धर्मशाला की जैसी व्यवस्था होनी चाहिए, नहीं दिखाई दी। सुनते हैं, संचालक या अधिकारी लोग ही उस धर्मशाला का निजी तौर पर उपयोग करते हैं, यात्रियों के लिए गुंजाइश ही नहीं है। धर्मशाला को ठीक बनाना भी जरूरी है। उसमें साफ-सफाई भी नहीं है।

सारनाथ से मैं और जमनालालजी चंद्रपुरी गये थे। यह भगवान् चन्द्र-प्रभु का स्थान माना जाता है। यहाँ एक दिगंबर और एक श्वेताम्बर मंदिर है। एक श्वेताम्बर धर्मशाला भी है। दोनों मंदिरों के दर्शन किये। गंगा के किनारे एक छोटा-सा गाँव है। अच्छा स्थान है।

पहली बार जब आया था, तब डॉ० हीरालालजी के सभापतित्व में जैन आश्रम का वार्षिकोत्सव था। आश्रम के मंत्री लाला हरजसरायजी पंजाब से आये थे। आप बड़े ही उत्साही और लगन के सज्जन हैं। उत्सव दोपहर में २॥ बजे से ५ बजे तक हुआ। विद्याश्रम का विवरण बताते हुए मंत्रीजी ने बताया कि इस संस्था का उद्देश्य जैन-दर्शन में रुचि रखनेवाले उच्च विद्यार्थियों को स्कॉलरशिप देकर महत्त्वपूर्ण साहित्य निर्माण करना है। इस संस्था को

सौभाग्य से डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवाल का सहयोग प्राप्त हो गया है, जिनकी प्रेरणा से यह संस्था जैन-साहित्य और जैन-दर्शन का बृहत् इतिहास निर्माण करने जा रही है। डॉ० वासुदेवशरणजी, पं० महेन्द्रकुमारजी, पं० फूलचंदजी, पं० कैलाशचंद्रजी आदि के विचारपूर्ण भाषण हुए। श्री मोहनलाल मेहता का अभिनन्दन किया गया उन्होंने 'जैन कर्मवाद में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण' महानिबंध लिखकर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की थी।

डॉ० हीरालालजी का भाषण अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने सांप्रदायिक भेदभावों को भूलकर एक होकर काम करने पर जोर डाला। उत्सव अत्यन्त सादगी से सम्पन्न हुआ।

भारत जैन महामंडल और वैशाली विद्यापीठ के संबंध में भी डॉ० हीरालालजी से चर्चा हुई थी।

वैशाली भगवान् महावीर का जन्मस्थान है। वैशाली में जमीन का एक टुकड़ा ऐसा है, जहाँ पर कभी भी हल नहीं चला। महावीर-जयंती के दिन वैशाली में लगभग एक लाख लोग एकत्र होते हैं और उस जमीन पर दीपक सँजोये जाते हैं। वैशाली में कोई भी व्यक्ति मांस नहीं खाता और वहाँ पर एक महावीर तीर्थंकर हाईस्कूल भी चलता है। उस गाँव में एक भी जैन-घर नहीं है। फिर भी आज ढाई हजार वर्ष के बाद भी महावीर स्वामी की शिक्षा का वहाँ के जन-मानस पर पूरा प्रभाव है। जब लोगों से पूछा गया कि महावीर तीर्थंकर हाईस्कूल में तीर्थंकर क्यों जोड़ा गया, तो बताया गया कि महावीर से भ्रम होता है और लोग हनुमान् भी समझ लेते हैं। तीर्थंकर इसीलिए जोड़ा गया। बाहर से आने-वाला भी कोई व्यक्ति वहाँ मांस नहीं खा सकता।

वैशाली मुजफ्फरपुर से बीस मील पर मोटर-सड़क पर है। रोज बस चलती है।

वैशाली में मुख्यतः प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के, जैन-धर्म, दर्शन के अध्ययन की व्यवस्था रहेगी। एक विशाल पुस्तकालय रहेगा। कार्यकर्ताओं के लिए क्वार्टर भी रहेंगे। डॉ० हीरालालजी के यहाँ आ जाने से पूर्वी क्षेत्र के

लिए एक बहुत बड़ा केन्द्र हो गया है। उनके मार्गदर्शन में यहाँ की संस्थाएँ काफी विकास करेंगी, ऐसी आशा है।

डॉ० हीरालालजी के सामने मैंने एक विचार रखा कि भारत जैन महामंडल का एक अधिवेशन वैशाली में किया जाय और एक बनारस में या सारनाथ में। ये दोनों अधिवेशन आडंबर और दिखावे से दूर सादगीपूर्ण वातावरण में हों। जो लोग बाहर से आयें, उनके रहने के और खाने-पीने का प्रबन्ध समुचित हो; लेकिन पंडाल, मंच, रोशनी, जुलूस आदि में कतई खर्च न किया जाय। महामंडल को अब सांस्कृतिक धरातल पर लाने की आवश्यकता है। इस दृष्टि से वैशाली और सारनाथ का वातावरण बहुत अनुकूल है। वैशाली का कार्य सम्प्रदाय-निरपेक्ष ही होगा, इसलिए भी वहाँ भारत जैन महामंडल का अधिवेशन आवश्यक है। बनारस विद्वानों का केंद्रस्थान है। यहाँ अनेक विचारकों और कार्यकर्ताओं का सहयोग सहज ही उपलब्ध हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ जिस विचार का बीजारोपण होगा, वह सारे देश में जल्दी ही फैल सकता है।

मुझे तो दिनोंदिन अब यह तीव्रता से महसूस होने लगा है कि देश में आज नये समाज की रचना का जो वातावरण बन रहा है, उसकी जो हवा फैल रही है, उसके लिए भारत जैन महामंडल का विचार-मंत्र ही जैन-समाज में नवस्फूर्ति, नवचेतना लाने में समर्थ हो सकेगा। महामंडल का साथ देनेवाले आज कितने लोग हैं, यह महत्त्व की बात नहीं है। गणित-शास्त्री गणित करते रहें, लेकिन जहाँ तक भावना का प्रश्न है, वह गणित की तरह नहीं फैलती। दो आदमी भी वह वातावरण निर्माण कर सकते हैं, जो लाखों से नहीं हो सकता। बनारस का पार्श्वनाथ विद्याश्रम दलसुखभाई, कृष्णचन्द्रजी और हरजसरायजी के प्रयत्नों का सुपरिणाम है। इसी तरह भारत जैन महामंडल में भी आज भले ही थोड़े-से कार्यकर्ता दिखाई दें, लेकिन वे ही उसके प्राण हैं।

मैंने भाई जमनालालजी के सामने अपनी दो-एक नयी योजनाएँ रखीं। वैयक्तिक मसलों और परिवार के वातावरण को लेकर मैं अपने सिर पर अनेक चिंताएँ ओढ़ लिया करता हूँ। मैंने एक योजना रखी कि वर्धा में अपने ही मकान में एक जैन-आश्रम जैसी संस्था बनाकर रहा जाय, किसीसे कुछ माँगा

न जाय और जो भी सेवा बन पड़े, वह वह की जाय। मेरे स्वभाव, वातावरण आदि को देखते हुए जमनालालजी ने सलाह दी कि अब मुझे किसी भी काम की स्वयं शुरुआत न करनी चाहिए और परिवार में भी अनासक्त बनकर रहना चाहिए। लड़के स्वयं समझदार हैं। अपना सुख-दुःख समझते हैं। उनको अपनी मर्जी के माफिक चलने देना चाहिए। वे अगर सलाह माँगते हैं, तो दे देनी चाहिए। वरना चुप रहना ही ठीक है। सारे झगड़े और मतभेद की जड़ दूसरे पर अपना विचार थोपना है। इस बात का अनुभव मैंने बनारस में किया। जमनालालजी के यहाँ तीस दिन रहा, लेकिन स्वयं होकर मैंने कभी कोई बात नहीं कही। जब-जब उन्होंने सलाह माँगी, तभी दी। यद्यपि मेरा ऐसा स्वभाव नहीं है, फिर भी ऐसा अभ्यास मुझे करना होगा।

बनारस की थियोसोफिकल सोसाइटी देखी। वातावरण बड़ा अच्छा है। मंदिर, पुस्तकालय और हाईस्कूल देखा। एक १५ वर्ष का बालक हमें पुस्तकालय और मंदिर दिखाने ले गया। बड़ा नम्र और होनहार छात्र था। कबीर साहब का मंदिर भी देखने गया। वहाँ प्रार्थना हो रही थी। वहाँ उनके फोटो रखे थे। कबीर ने भारतीय समाज को सामाजिक और धार्मिक जीवन के जो तत्त्व दिये, वे इतने सरल, सुबोध और सहज हैं कि युग-युग तक कबीर की वाणी वेदों और पुराणों से ज्यादा प्रभाव डालती रहेगी। राधास्वामी के मंदिर में भी गये। वहाँ भी राधास्वामी संप्रदाय के एक भाई एक ग्रन्थ पढ़ रहे थे। यों देखा जाय, तो मानव-उत्थान की बातें सारे धर्मों में एक ही हैं। कहने के ढंग अलग हैं। नदियाँ अनेक हैं, लेकिन उनका संगम एक ही है।

इस बार विश्वविद्यालय स्थित विश्वनाथ-मंदिर देखकर तबीयत खुश हो गयी। लगभग दस वर्षों से मंदिर बन रहा है, अभी भी काम चालू ही है। मन्दिर बड़ा भव्य है, दीवालों पर सब धर्मों के प्रवर्तकों के चित्र तथा उनके उपदेश उत्कीर्ण हैं। सफाई और शांति का तो वहाँ साम्राज्य है। बिड़ला-बन्धुओं की देखरेख में यह सारा काम चल रहा है। यह मन्दिर देखकर मुझे लगा कि वर्धा के श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिर में भी उपदेश और गीता आदि धर्म-ग्रन्थ उत्कीर्ण कराये जायँ।

जैन मन्दिरों का वातावरण भी इतना भव्य हो। मैंने कलकत्ता के बेलगछिया मन्दिर में इसकी कुछ झलक देखी, महावीरजी में भी कुछ काम हुआ है। अनेक प्रकार के आडम्बरों और रिवाजों में हजारों रुपये खर्च करने की अपेक्षा इस प्रकार का वातावरण निर्माण करना ज्यादा उपयोगी होगा।

इस बार माँ आनन्दमयी के दर्शन किये। पुरानी स्मृतियाँ उभर आयीं। सेठ जमनालालजी ने उनको माँ माना था, उनके स्वर्गवास के १२ घण्टे बाद ही वे वर्धा पहुँच गयी थीं—जब कि उन्हें जमनालालजी के स्वर्गवास की कोई सूचना नहीं दी गयी थी। माँ के मुखमण्डल पर अपूर्व शांति और तेज है। दर्शन करने से परम शांति मिलती है।

सर्व-सेवा-संघ की ओर से संचालित साधना-केन्द्र देखा। सिद्धराजजी ढड्ढा से मिला। इस साधना-केन्द्र में श्री शंकररावजी देव, दादा धर्माधिकारी, विमला-बहन आदि रहते हैं। अच्छा स्थान है। जीवन के सांध्यकाल में अपने चिंतन और अनुभव का लाभ समाज को देने के लिए दो-एक जैन केन्द्र भी ऐसे हों, जहाँ विद्वान् लोग बैठें और जीवन की समस्त चिंताओं से मुक्त रहें।

बनारस में श्री सतीशकुमार और श्री मधुपकुमार से मिला। साधकजी से मिलना नहीं हो सका। ये तीनों पहले तेरापंथी सम्प्रदाय के मुनि रह चुके हैं। समाज का कर्तव्य है कि ऐसे स्वतंत्रचेता लोगों को खोना नहीं चाहिए, बल्कि अपनाकर उनके साथ सम्मानित श्रावकों जैसा ही व्यवहार होना चाहिए। मुनि और श्रावक की स्थिति तो सापेक्ष ही है। कोई स्थिति ऊँच-नीच नहीं है। अपनी-अपनी जगह पर दोनों का मूल्य है।

जमनालालजी सर्व-सेवा-संघ के प्रकाशन-विभाग में काम करते हैं। वहाँ के व्यवस्थापक हैं। भूदान और सर्वोदय-विचार की सैकड़ों किताबें निकाली गयी हैं और बहुत सस्ते दामों पर वितरित की जाती हैं। उनका कार्य देखकर बड़ा समाधान हुआ। जमनालालजी अपने समय को बिलकुल फिजूल नहीं जाने देते और रात-दिन अपने काम में लगे रहते हैं। मैं उनके यहाँ रहा, लेकिन कभी भी उन्होंने अपने काम की उपेक्षा नहीं की। जिन लोगों के पास फालतू समय

होता है, वे अपने कर्तव्य और धर्म पर स्थिर नहीं रह पाते। उनके दिमाग में शैतान पैठ जाता है। प्रकाशन का कार्य उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

इस प्रकार मेरी यह तीस दिनों की काशी-यात्रा पूरी हुई। समय आनन्द में कटा।

काशी से कुछ ऐसी आसक्ति हो गयी कि पुनः-पुनः आने को जी चाहता है। देखें, वह अवसर कब मिलता है।

अंत में एक बात का उल्लेख जरूरी है। पिछले दिनों श्री रिषभदासजी रांका तथा श्री भानुकुमारजी जैन ने 'जैन-जगत्' में मेरे लिए एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना प्रकाशित कर दी। पढ़कर मैं तो दंग रह गया। मेरी इतनी योग्यता और पात्रता कहाँ कि मैं अभिनन्दन-ग्रन्थ का बोझ झेल सकूँ। यह ठीक है कि विश्व में हर व्यक्ति का कुछ मूल्य है, कुछ अनोखी विशेषता होती है, लेकिन सामाजिक और सांस्कृतिक पात्रता बिलकुल अलग चीज है। मैंने रिषभदासजी से कहा कि यह आपने अच्छा नहीं किया। मेरी मित्रता और स्नेह पर यह अत्याचार है। अभिनन्दन-ग्रन्थ तो महात्मा भगवानदीनजी जैसे त्यागी, विद्वान् और सत्पुरुष का ही निकल सकता है, निकलना चाहिए। मैं नहीं समझता कि मैंने समाज के लिए कुछ किया है। अगर कुछ किया भी हो, तो निश्चित समझिये कि मेरा स्वार्थ उसमें कहीं-न-कहीं होगा ही। एक सामान्य गृहस्थ हूँ। लोभ मेरा छूटा नहीं है, मोह-ममता की बेड़ियों से घिरा हूँ। इसलिए अभिनन्दन-ग्रन्थ के भार से मुक्त करने की प्रार्थना मैंने रिषभदासजी से की। इसलिए भी मैं इस बार काशी गया कि भाई जमनालाल भी उस झंझट से बचें।

स्व० श्रीमती सुगणाबाई

[जमनालाल जैन]

अजमेर जिले में रूपनगढ़ नामक एक छोटा-सा ग्राम है। वहाँ पर श्री मन्नालालजी पाटनी और उनका परिवार रहता था। उनके दो पुत्र श्री जुहारमलजी तथा हंसराजजी और दो कन्याएँ थीं। उनमें से एक सुगणाबाई थी। श्री मन्नालालजी का परिवार बरार में अकोला जिले के वाशिम नामक ग्राम में आकर बस गया। उनके वंशज कुशल व्यापारी, सम्पन्न तथा सुखी हैं।

श्रीमती सुगणाबाई का जन्म विक्रम संवत् १६३४ के आसपास हुआ और विक्रम संवत् १६४७ में श्री जेठमलजी बड़जाते के साथ उनका विवाह हुआ।

श्री जेठमलजी के पिता कुन्दनमलजी अपने बन्धु चंपालालजी के साथ वर्धा में आकर कपड़े का व्यवसाय करने लगे थे। योगायोग की बात कि विवाह के पाँच वर्ष पश्चात् ही श्री जेठमलजी का स्वर्गवास हो गया। अब सुगणाबाई के विधवा हो जाने से उनके संरक्षण का भार श्री पन्नालालजी पर आ पड़ा। श्री पन्नालालजी चंपालालजी के पुत्र थे।

पन्नालालजी अत्यन्त व्यवहारकुशल और मंजे हुए व्यवसायी थे। कपड़े के व्यापार में आपने करीब दो-ढाई लाख रुपयों की कमाई की। वर्धा के दिगम्बर जैन-समाज की प्रवृत्तियों तथा हलचलों में उनका प्रमुख स्थान रहता था। आपने जीवनभर श्रीमती सुगणाबाई को मातृत्व की दृष्टि से देखा। बाल-विधवा होने पर भी सुगणाबाई को परिवार में किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ, बल्कि सबने उन्हें आदर ही दिया।

पन्नालालजी धार्मिक तथा सात्त्विक वृत्ति के थे। अपनी मृत्यु के समय वे एक ट्रस्टडीड मुकर्रर कर गये थे और मृत्यु-लेख में श्रीमती सुगणाबाई तथा अपनी धर्मपत्नी को एक-एक लड़का दत्तक लेने का अधिकार भी सौंप गये थे।

निश्चयानुसार दोनों के नाम पर दो लड़के दत्तक लिये गये। उग्रास

(मारवाड़) में श्री मोहरीलालजी बड़जाते रहते थे। उनका एक लड़का श्रीमती सुगणाबाई ने लिया। यही पुत्र श्री चिरंजीलालजी के नाम से सुप्रसिद्ध है, जो व्यावहारिकता और समाज-सेवा से सारे जैन-समाज में सुपरिचित है। श्री पन्नालालजी की पत्नी मोहनादेवी के भी एक लड़का दत्तक लिया गया, जिनका नाम श्री सूरजमलजी बड़जाते था। उनका स्वर्गवास ता० १५ फरवरी '४२ को हो गया। उनकी धर्मपत्नी बुलढ़ाना में रहती हैं। सूरजमलजी की धर्मपत्नी श्रीमती चम्पादेवी अपना सारा समय धर्म, ध्यान और स्वाध्याय में लगाती हैं। उनका घर एक एकान्त आश्रम-सा है। सूरजमलजी के दो पुत्र हैं, जो नागपुर में रहते हैं। बड़े पुत्र गेंदालाल 'लाइफ इन्शुरंस कारपोरेशन' में हैं और छोटे श्री शांतिलाल 'कामर्स कॉलेज' में प्रोफेसर हैं।

दोनों भाइयों का दत्तक-विधान होने तक और उसके कुछ काल बाद तक भी सारा परिवार सम्मिलित रूप से रहता था। लेकिन बाद में श्री चिरंजीलालजी और सूरजमलजी अलग-अलग होकर स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय चलाने लगे। यह बँटवारा ता० २३-८-'२१ को हुआ।

श्रीमती सुगणाबाई सात्त्विक विचारों की साहसी महिला थीं। अलग होने पर जब चिरंजीलालजी ने रूई आदि के व्यापार में करीब-करीब डेढ़ लाख की सम्पत्ति स्वाहा कर दी, तब भी सुगणाबाई ने किसी प्रकार का दुःख प्रकट नहीं किया और न चिरंजीलालजी को कुछ कहा। दत्तक पुत्र होने पर भी सुगणाबाई तथा चिरञ्जीलालजी में माँ-बेटे का स्नेह और वात्सल्य बना रहा और चिरंजीलालजी उनकी बराबर सेवा करते रहे।

वे धार्मिक विचार की थीं। संवत् १९५७ में वर्धा में जब प्लेग फैला, तब उन्होंने श्री दिगम्बर जैन-मंदिर पर गुम्बद बनवाने का संकल्प किया। मंदिर के ऊपरी भाग में वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव सन् १९२४-२५ में किया गया। उसी समय श्री भारतवर्षीय दि० जैन-परिषद् का अधिवेशन भी वर्धा में हुआ। अधिवेशन तथा प्रतिष्ठा में बाहर के कई सज्जन सम्मिलित हुए थे। बा० अजितप्रसादजी लखनऊ, बै० चंपतरायजी, ब्र० शीतलप्रसादजी जैसे व्यक्ति का लाभ प्राप्त हुआ था। समस्त आगत सज्जनों के भोजन आदि का प्रबंध सुगणाबाईजी की ओर से था। एक

वार वे अपने कुटुंबियों के साथ भगवान् गोमटेश्वर-बाहुवली की यात्रा को भी गयी थीं।

यद्यपि वे पुराने विचारों की भद्र-परिणामी महिला थीं, तथापि चिरंजीलालजी को उनकी सामाजिक सेवाओं के समय वरावर साथ और साहस देती रही हैं। अब से २५ वर्ष पहले की इन बातों को जब हम देखते हैं, तो आश्चर्य होता है आज के शिक्षितों की शाब्दिक सुधारकता पर। म्युनिसिपल कमेटी के मेम्बर की हैसियत से जब चिरंजीलालजी ने सार्वजनिक कुँओं को सबके लिए खुलवा दिया, तब जाति-वालों ने उन्हें बहिष्कृत कर दिया। उनकी माँ सुगणाबाई को भी बहकाया गया, धमकी दी गयी; परंतु उन्होंने चिरञ्जीलालजी का साथ नहीं छोड़ा। कई बार ऐसे भी अवसर आये, जब उन्हें समाज की ओर से होनेवाले अपमान को सहना पड़ा है। एक बार उन्हें मन्दिर जाते समय 'ढेड़नी' शब्द से सम्बोधित किया गया, लेकिन इस बारे में उन्होंने सहनशीलता ही दिखाई। समाज के भय से चिरंजी-लालजी को उनके मार्ग से विचलित नहीं किया। यदि यह बात उनमें न होती, तो आज चिरंजीलालजी का जो सामाजिक रूप दीख रहा है, वह न दीखता। ऐसे अवसरों पर स्व० सेठ जमनालालजी बजाज उन्हें ढाढ़स बँधाते और साहस की प्रेरणा देते। स्व० सेठ साहब के हृदय में उनके प्रति अत्यन्त आदर था।

स्नेह और सौजन्य की तो वे देवी थीं। उन्हें अतिथि-सत्कार और दूसरों की सेवा करने में बहुत आनंद आता था। चिरंजीलालजी का जीवन-निर्माण उनकी गोदी में ही हुआ और कहना चाहिए कि उनके स्नेह तथा सौजन्य ने ही इन्हें मनुष्य बनाया है। पं० अर्जुनलालजी सेठी, ब्र० शीतलप्रसादजी उनका आतिथ्य-सत्कार प्राप्त कर चुके हैं। यह चिरञ्जीलालजी का सौभाग्य है कि उन्हें ऐसी माँ मिली, जिसने सेवा और सौजन्य के संस्कार ही प्रदान किये। यह उनकी माताजी के जीवन तथा स्व० जमनालालजी बजाज की प्रेरणा का ही प्रभाव है कि उनमें समाज, धर्म तथा राष्ट्र के प्रति प्रेम है, दूसरों का आदर करना वे जानते हैं और अतिथि-सत्कार करने में आनन्द का अनुभव करते हैं।

पं० उदयलालजी काशलीवाल का भी सुगणाबाईजी से काफी आत्मीय सम्बन्ध रहा है। वे वर्धा में एक-एक मास तक ठहरते और उनके हाथ का भोजन

कर आनन्द का अनुभव करते। जिस दिन चौके में सुगणाबाईजी न होतीं, तो उदयलालजी की इच्छा ही भोजन की नहीं होती थी—उस दिन वे आधे भोजन ही उठ जाते और यह बात प्रकट भी कर देते। मालूम होता है, पंडितजी का पूर्वजन्म संस्कारजन्य सम्बन्ध ही विशेष रहा है। इस तरह पंडितजी चिरञ्जीलालजी के परिवार से काफी समरस हो गये थे।

श्रीमती सुगणाबाई का स्वर्गवास संवत् १९९५ में ता० २१-३-'३८ को हुआ। उनकी स्मृति में श्री चिरञ्जीलालजी ने 'सुगणाबाई ट्रस्ट' स्थापित किया है। यह पारिवारिक ट्रस्ट है।

एक इंप्रेशन

समाज के 'गौरव'

[जमनालाल जैन]

जैन-समाज के समाज-सुधारकों और स्थिति-पालकों में ऐसा कौन व्यक्ति है, जो वर्धा के श्री चिरंजीलालजी बड़जाते को नहीं जानता ! यह एक ऐसा व्यक्तित्व है, जिसने स्थितिपालकों और सुधारकों दोनों का प्रेम प्राप्त किया है, दोनों से जिसे आदर मिला है, जिसने दोनों को सगे भाई की तरह देखा है। ऐसा व्यक्तित्व ढूँढ़ने पर भी शायद ही मिले। सुधारकों से मिलिये, वे रूढ़िग्रस्तों की भरपेट निंदा करने में नहीं हिचकते और स्थिति-पालकों से मिलिये, तो सुधारकों के नैतिक दोषों तथा कथनी-करनी की तीव्र आलोचना करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते। लेकिन चिरंजीलालजी की निंदा या आलोचना सुनने का अवसर अब तक हमें तो नहीं मिला। हम यह नहीं कहना चाहते कि चिरंजीलालजी की आलोचना कोई करता ही नहीं। उनकी भी काफी आलोचना होती है और यह आलोचना उनके विरोधी नहीं, बल्कि उनके मित्र ही और उनके सामने ही करते रहते हैं। लेकिन यह आलोचना ऐसी नहीं होती, जिससे उनका व्यक्तित्व किसी माने में हल्का या निम्न कोटि का साबित हो। यह आलोचना तो तब होती है, जब वे अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर अति मानवता तक पहुँच जाते हैं और जिसके परिणामस्वरूप हित की जगह अनहित की आशंका होने लगती है।

किस विचारक के क्या विचार हैं और उन विचारों का समाज-जीवन पर कब कैसा प्रभाव पड़ता है, पड़ सकता है, इसकी गहराई में जाने का काम चिरंजीलालजी का नहीं है। वे तो केवल एक बात देखते हैं---आदमी अपने-आपमें खरा और समाज-सेवा की भावनावाला है या नहीं। अगर आदमी खरा और सेवा-वृत्ति-वाला है, जो समाज को, देश को कुछ न कुछ देता है, वह उनके लिए आदरणीय

और पूज्य है। उनके सहयोगी और मित्र कभी-कभी उनसे कहते हैं कि भाईजी, आपके लिए तो रामाय स्वस्ति और रावणाय स्वस्ति एक साथ एक अर्थ रखते हैं। वे इस फबती को सुन लेते हैं और मुसकरा देते हैं। यह 'मुसकराना' कुछ ऐसा होता है, मानो वे कह देते हैं कि "बच्चू, अभी नये-नये मैदान में उतरे हो, अनुभव लेकर देखो, तब पता चलेगा कि समाज में रहना कैसा होता है।" और सचमुच उनके जीवन के ५० वर्ष ऐसे ही मीठे-कड़ुवे अनुभवों को झेलते हुए बीते हैं। असल बात यह है कि जो आदमी किसी एक विचार में या पक्ष मे आबद्ध होकर दूसरे के प्रति उपेक्षा या तिरस्कार का भाव मन में रखता है, वह साम्प्रदायिकता और संकुचितता से ऊपर उठा ही नहीं। जो अखंड मानवता में विश्वास करते हैं, जो सेवा और त्याग के प्रति निष्ठावान् होते हैं, वे विचारों के कारण भेद-विभेद को कोई मौका दे ही नहीं सकते। तीर्थंकर महावीर का अनेकांत '३६' की जगह '६३' की शिक्षा देता है और यह चीज अनजाने ही सही, चिरञ्जीलालजी के जीवन में व्याप्त हो गयी है। यही कारण है कि वे निःसंकोच रूप से हर धर्म के स्थानों पर पहुँच जाते हैं, हर दल और संप्रदाय के बीच दिखाई पड़ जाते हैं।

चिरञ्जीलालजी की लिखाई-पढ़ाई बहुत कम हुई या कह सकते हैं कि नहीं के बराबर ही हुई और फिर वे एक सम्पन्न परिवार में गोद आ गये। दत्तक आने के समय उनकी मानसिक और बौद्धिक स्थिति अत्यन्त मंद ही कही जा सकती है। लेकिन सम्पन्न परिवार में दत्तक आने के कारण उन्हें समाज में कुछ कार्य करने का मौका मिला। मिला क्या, उन्हें मौका दिया गया। आज भी जब पैसेवालों को समाज-सेवा के क्षेत्र में अनिच्छापूर्वक या नाम-प्रतिष्ठा के लिए उतरना पड़ता है या इसके लिए मजबूर किया जाता है, तब ५० वर्ष पूर्व की स्थिति को देखते हुए अगर चिरञ्जीलालजी को समाज-सेवा का आकर्षण लगा हो और उसमें प्रमुख कारण नाम की इच्छा या सम्पन्नता रही हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। दुर्दैव से चाहे जैसी परिस्थिति आने पर भी उनकी समाज-सेवा की भावना मंद या मंथर होने के बदले उत्तरोत्तर बढ़ती ही गयी और उन्हें इसके अनुकूल वातावरण तथा अनुकूल संगति मिलती रही, यह सचमुच उनके लिए गौरव की बात रही है। सन् '२७ में जब उनकी आर्थिक स्थिति अत्यन्त गिर गयी, तब सेठ जमनालालजी ने उनको

ढाढ़स ही नहीं बँधाया, उनके कारोबार को अपने हाथ में लिया, सावधानी और धीरज के साथ निपटाया और छाती से लगाकर मित्र और भाई की तरह इनको सँभाल लिया। सेठजी के मार्गदर्शन में इनके जीवन का जीर्णोद्धार हो गया और अपने-आपको सेठजी के सुपुर्द कर दिया। एक बेपढ़ा-लिखा आदमी, जिसने जिंदगी में कभी किसीके हाथ के नीचे काम नहीं किया और जो सदा मालिक और सेठ के रूप में ही प्रतिष्ठा पाता रहा, वह आज दूसरों की ड्योढ़ी पर मुनीम बनकर पहुँचा। पैसा पास में नहीं और हाथ से काम भी जिसने न किया हो। जमनालालजी का कारोबार छोटा-मोटा नहीं! लेकिन जमनालालजी आदमी को परखते थे, वे सच्चे अर्थों में जीवन के जौहरी थे। चिरञ्जीलालजी उस समय भले ही बुद्धि और सोने-चाँदी के टुकड़ों की दृष्टि से निर्धन रहे हों, किन्तु भावना और शक्ति की दृष्टि से उनकी आत्मा बहुत बड़ी थी, यह सेठजी ने देख लिया था। यही कारण है कि धीरे-धीरे चिरञ्जीलालजी उनके फर्म के ही नहीं, परिवार के भी एक सदस्य-से बन गये और पन्द्रह कंपनियों का संचालन अत्यन्त कुशलता, सावधानी तथा विवेकपूर्वक करते रहे। सेठजी और चिरञ्जीलालजी का संबंध राम और हनुमान् जैसा रहा है। राम की आज्ञा का आँख मूँदकर पालन करना हनुमान् का कार्य है। राम की आज्ञा के आगे हनुमान् की बुद्धि और शक्ति नापने और तौलने की जरूरत नहीं। यही काम चिरञ्जीलालजी ने किया। सेठजी के जिन कार्यों में बड़े-बड़े बुद्धिमानों के छक्के छूट जाते थे, उनमें चिरञ्जीलालजी पूरी आत्मनिष्ठा के साथ, बिना किसी परेशानी की परवाह किये कूद पड़ते थे और यथासंभव वह काम पूरा करके ही चैन लेते थे। हनुमान् तो राम का काम करना अपना कर्तव्य ही समझते थे। कार्य की सफलता तो रामजी की कृपा पर ही निर्भर थी। इसी तरह चिरञ्जीलालजी भी कहते हैं कि मेरा काम तो काम करना था, जो सफलताएँ मिलीं, वे सेठजी के पुण्य-भाग्य से। आज वे सेठजी के कारोबार से निवृत्त हो गये हैं, फिर भी अनासक्त भाव से श्री कमलनयनजी और श्री रामकृष्णजी बजाज को उनके कार्यों में सहयोग देते ही रहते हैं। सच बात तो यह है कि उनका हृदय और सारा तन-मन सेठजी की भक्ति से ओत-प्रोत है, जिनके कारण वे चुप नहीं रह सकते। हनुमान् राम के बिना जीवित कैसे रह सकता है?

चिरञ्जीलालजी सुख के नहीं, दुःख के साथी हैं। उनका कोई साथी, मित्र या कुटुम्बी खा-पीकर सुखी है, तो वे उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखेंगे; किन्तु अगर उन्हें मालूम हो जाय कि उनका कोई विरोधी और शत्रु भी किसी आफत में, विपत में या दुःख में पड़ गया है और वे किसी भी रूप में उसकी मदद कर सकते हैं, तो वे उस समय सारी बातों को भुलाकर उसके पास पहुँच जायँगे और यथाशक्ति उसकी सहायता करेंगे। तब वे विचार नहीं करेंगे कि यह वही आदमी है, जिसने अमुक समय उनके साथ कैसा सलूक किया था! भयंकर नुकसान पहुँचानेवाले के साथ भी ऐसे समय उनकी आत्मा द्रवित हो उठती है और मर्यादा का विचार न करके भी उसकी सहायता को दौड़ पड़ते हैं। जमनालालजी के यहाँ से उन्हें हटाने के लिए भी बहुत लोगों ने बहुत प्रकार से प्रयास किये, सेठजी के पास अनेक तरह की चुगलियाँ खायीं, किन्तु इनका व्यवहार उन सबके साथ ज्यों-का-त्यों रहा। इस वृत्ति के कारण उनको कई बार बहुत कुछ बरदाश्त भी करना पड़ता है, किन्तु स्वभाव ही कुछ ऐसा पड़ गया है। वे ये सारी बातें समझते भी हैं, चर्चा भी करते हैं, किन्तु स्वभाव के आगे लाचार रह जाते हैं। ताल पर जैसे नर्तक के पग उठने लगते हैं, वैसा ही इनका हाल है।

यद्यपि चिरञ्जीलालजी का पालन-पोषण रूढ़िवादी परिवार में ही हुआ, किन्तु गोद आने के बाद इन्होंने अपने आसपास का वातावरण इस प्रकार का बनाया कि ये दिनों-दिन सुधार की ओर ही बढ़ते गये। पं० उदयलालजी कासलीवाल, महात्मा भगवानदीनजी, ब्र० शीतलप्रसादजी, बाबू अजितप्रसादजी, अर्जुनलालजी, सेठी सत्यभक्तजी आदि के संपर्क के कारण समाज-सुधार के उनके विचार पक्के होते गये। जमनालालजी के कारण बापू के निकट संपर्क में भी वे आये। कांग्रेस और कांग्रेसी नेताओं का स्नेह भी इन्हें काफी मिला। आदमी जिस प्रकार के वातावरण में रहता है, वैसा ही बन भी जाता है। अगर चिरञ्जीलालजी जमनालालजी के कारोबार को सँभालने की जगह समाज और देश के क्रियात्मक आंदोलनों में पूरी तरह कूद पड़े होते और थोड़ा शिक्षण अधिक हुआ होता, तो आज कम-से-कम जैन-समाज को एक ऐसा नेता मिला होता, जो सारे संप्रदायों को अपने प्रेमपाश में बाँध लेता। चिरंजीलालजी के विचार तो सुधारकता के बनते गये, लेकिन कारोबारी और हिसाबी होने के कारण उनकी वृत्ति समन्वयात्मक ही

अधिक रही। किसीको नाराज करना और किसीका जी दुखाना उनके स्वभाव में नहीं रहा। समन्वय की भूमिका में क्रांति की आग प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देती, वह भीतर ही भीतर वड़वानल की तरह धधकती रहती है। समाज-सुधार के सैकड़ों कार्यों में उन्होंने हजारों रुपया मुक्त-हस्त से खर्च किया है, लेकिन उसका कोई बाह्य चिह्न या स्मारक किसीको कैसे दीख सकता है? ढिंढोरा न पीटते हुए इन्होंने जो कुछ बरदाश्त किया, उसीका यह परिणाम है कि आज स्थितिपालक और सुधारक, दोनों इनका समान रूप से आदर करते हैं। समाज एक ओर तो अंतर्जातीय विवाह करनेवाले को जाति-बाहर करता है, किन्तु दूसरी ओर चिरंजीलालजी के यहाँ वही व्यक्ति प्रमुख पात्र बना रहता है, तब भी समाज कुछ नहीं करता। जैन-समाज में समाज-सुधारक के कार्यों को प्रेरणा देने में इनका पर्याप्त हाथ रहा है। बौद्धिक मदद का प्रश्न इतना बड़ा नहीं है, जितना किसी आंदोलनकर्ता को ढाढ़स बँधाकर, आश्रय देकर और आर्थिक मदद देकर उत्साह को बढ़ाते रहने का है। उस जमाने में, जब कि एक ओर अंग्रेजी सल्तनत थी और उसके कारण रूढ़िवादी पूँजीपतियों को उसका बहुत बड़ा सहारा था, चिरंजीलालजी का सुधार-क्षेत्र में प्रवेश करना कम महत्त्व की बात नहीं है। जैन-समाज के पिछले पचास वर्ष के इतिहास में चिरंजीलालजी स्वयं एक प्रकरण के रूप में प्रतिष्ठित हैं और एक अध्याय ही नहीं, हर अध्याय में उनका अपना स्थान है।

अतिथि-सत्कार में तो उनकी होड़ करना कुबेर के लिए भी कठिन होगा। पत्नी और पुत्र चाहे जितना भी टालना चाहें, पर चिरञ्जीलालजी इस व्रत में कभी कोई भूल नहीं होने देते। घर पर कोई मेहमान आ जाय और वह बिना भोजन किये लौट जाय, यह स्थिति उनके लिए मरणप्राय हो जाती है। कोई अनजबी भी उनके यहाँ डेरा डाल सकता है। घर पर बिना सूचना दिये भी कई बार वे अतिथियों को ले आते हैं और इस तरह घरवालों को असुविधा में डाल देते हैं। इस मामले को लेकर कई बार घर में चख-चख हो जाती है और वे महसूस भी करते हैं कि उन्हें वस्तुतः ऐसा नहीं करना चाहिए था, किन्तु रात बीती कि वह सारी बात सपने-जैसी हो जाती है। एक बार तो ऐसा हुआ कि एक आदमी फर्जी-रिश्तेदार बनकर आया और चिरञ्जीलालजी ने रात को अपने घर पर सोने

को कह दिया। वहीं पर बाहर के एक दूसरे भाई भी सोये थे। सुबह चिरंजीलाल-जी तो पर्यटन के लिए निकल गये और वे हजरत मेहमान की घड़ी, स्वेटर आदि लेकर चलते बने ! इस तरह कई बार अतिथि-सत्कार उन्हें परेशानी में डाल चुका है और इसीलिए घर के लोग कहा करते हैं कि वे बिना जान-पहचानवालों को निमंत्रण न दिया करें। लेकिन चिरञ्जीलालजी उसके महत्त्व को जानते हैं। अतिथि-सत्कार जब वे सारे देश में पाते हैं, तब किसको रोक दें। इसकी कोई कसौटी थोड़े ही होती है। किसी अतिथि की कसौटी हो या न हो, उनकी कसौटी तो हो ही जाती है। अभी-अभी की बात है कि वे सर्वोदय-सम्मेलन में कांजीवरम् गये थे। उत्तर भारतीय लोगों का लौटने का मार्ग प्रायः वर्धा होकर ही था। अनेक लोगों को वे वर्धा उतरने का निमंत्रण दे बैठे। संधवा के भाई लक्ष्मीचंदजी जैन और उनकी पत्नी श्रीमती फातमाबहन को भी सहज निमंत्रण दे दिया। कुछ दिनों बाद श्रीमती फातमाबहन वर्धा आयीं। संयोग की बात कि वर्धा में चिरंजीलालजी नहीं थे। घर पर केवल उनकी पत्नी ही थीं। चिरंजीलालजी भले ही सुधारक हों, लेकिन हरएक के संस्कार तो भिन्न होते ही हैं। अब धर्म-संकट आ खड़ा हुआ। नहीं उतारती हैं, तो आने पर चिरंजीलालजी नाराज होंगे और उतारती हैं, तो चौके में ही भोजन कराना संस्कार में नहीं बैठता। आखिर उनकी पत्नी ने फातमा-बहन को उतारा और अपने चौके में ही भोजन भी कराया। नौकरानी ने कपड़े धोने और थाली माँजने से इनकार कर दिया, पर उनकी पत्नी को तो सब करना ही था। एक दिन वे एक संबंधी के यहाँ जाकर कहने लगीं, "उस दिन वह फातमाबहन आयी थीं। जब वे निमंत्रण दे आये, तो क्या करती ! घर आया मेहमान तो देव ही होता है, फिर वह चाहे कोई हो ! लेकिन मेरे संस्कार में यह बात बैठती नहीं कि एक मुसलमान को भी अपने चौके में जिमाऊँ।"

अतिथि-सत्कार का यह गुण उनमें जमनालालजी की संगति से आया। अति-थियों के लिए होनेवाला खर्च कभी फिजूल नहीं जाता, यह उनकी मान्यता है। इसे वे एक ऐसी धरोहर मानते हैं, जो आदमी के आड़े वक्त काम आती है। वे कहते रहते हैं कि किसीको हजार रुपया देने के बाद शायद उसकी याद न रहे, पर भोजन एक ऐसी चीज है, जिसे आदमी आसानी से भूल नहीं

सकता। उन्हें खुद की अपेक्षा दूसरों को खिलाने-पिलाने में सुख महसूस होता है।

वचन-पालन पर वे बहुत जोर देते हैं। एक बार किसीको वचन देने पर चाहे जो परिस्थिति आ जाय, उसे पूरा करना वे अपना धर्म समझते हैं। इसके कारण उन्हें अनेक बार भयंकर आर्थिक संकट और कौटुंबिक कलहों में से गुजरना पड़ा है। नैतिकता तथा सचाई की उनकी अपनी कल्पनाएँ और अपना ढाँचा है। एक बार उन्होंने एक भाई को कुछ रकम कर्ज के रूप में देना स्वीकार कर लिया था। कुछ रकम दे भी दी गयी। रकम देते समय मालूम भी हो गया था कि इस रकम की प्राप्ति में अनेक कठिनाइयाँ आयेंगी और यह रकम काम के बढ़ाने के लिए नहीं, बल्कि पुराना कर्ज चुकाने के लिए दी जा रही है। फिर भी उन्होंने वचन के अनुसार रकम दे दी और फलस्वरूप उन्हें रकम की प्राप्ति में काफी परेशानी और घाटा सहन करना पड़ा। इतना घाटा कि उतनी रकम के व्याज से वे अपनी शेष जिन्दगी आराम से बिता सकते थे! इसी तरह उनको एक व्यसन यह भी लगा हुआ है कि अमुक लड़का सुधर जाय, अमुक की पढ़ाई पूरी हो जाय, अमुक काम-धंधे से लग जाय, तो अच्छा और इस निमित्त कुछ खर्च भी करना पड़े, तो हर्ज नहीं। एक विद्यार्थी को उन्होंने कुछ छात्रवृत्ति दी। अपने यहाँ कुछ काम भी दिया। घर पर भी रखा। उसने दो-तीन बार चोरियाँ भी कीं। बंबई में अपने पुत्र के पास भी रखा। लेकिन जब उसने उनके पुत्र का नया सूट ही चुरा लिया, तो पिता की तरह पुत्र कैसे बरदाश्त करता! फिर भी चिरंजीलालजी ने पुलिस में रिपोर्ट नहीं देने दी। जिनको चपरासी के रूप में रखा, उन लड़कों के व्याह तक करवा दिये।

उनके मानस पर उनके प्रति किये गये दुर्व्यवहार या छल-कपट का असर न होता हो, सो बात नहीं है। उनके मन पर ऐसी बातों का भयंकर असर होता है और वे आपे से बाहर भी हो जाते हैं, किन्तु सामनेवाला यदि क्षमा माँग ले, तो फौरन बर्फ की तरह पिघल जाते हैं।

भावुकता की दृष्टि से वे एकदम पके हुए आम के समान हैं। जब उनका मन अशांत और क्षुब्ध हो जाता है, तब अपने-आपको पीड़ित अनुभव करने

लगते हैं और जब खुशमिजाज रहते हैं, तब उनके साथ हँसी-विनोद करने में बच्चों को भी मजा आता है। वस्तुतः चिरंजीलालजी की प्रवृत्ति एक कोमलहृदय बच्चे जैसी है। क्रोध भी बच्चों-सा और स्नेह भी बच्चों-सा !

वे बहादुर सिपाही जरूर हैं, लेकिन हृदय उनका बड़ा कोमल है। इस कोमलता और संकोचशीलता को हम लोग कभी-कभी डरपोकपन भी समझ लेते हैं। लेकिन असल में जो आत्मदृष्टि से बहादुर होता है, वह कोमल ही हो सकता है। नारियल ऊपर से जितना कठोर होता है, भीतर से उतना ही मधुर होता है। समाज-सेवा और सुधारकता की दृष्टि से अपने जीवन में उन्होंने बहादुराना पार्ट अदा किया है, पर ज्ञानियों और अनुभवियों के आगे सदा विनम्र और श्रद्धावनत ही बने रहे हैं। जब समाज ने उनको जाति-बहिष्कृत किया था, तब जातिवालों ने उनकी माँ को 'ढेड़नी' जैसे शब्दों से संबोधित किया था ! राजस्थान में जब वे किसी स्थान पर गये, तो वहाँ के लोगों ने अँगुलियाँ उठाकर और गाना बनाकर कहा—ये आये राँडों का व्याह करानेवाले ! बरसों तक इनके खिलाफ जाति का वातावरण रहा, किंतु इन्होंने कभी बदले की भावना मन में नहीं रखी। एक ओर जहाँ इनका यह साहस कि ब्र० शीतलप्रसादजी के सनातन जैन समाज की स्थापना वर्धा से करवायी, वहाँ नम्रता और भोलापन इतना कि विपरीत विचारवालों और विदेशी सत्ता के चाकरों से भी प्रेम में कमी नहीं !

जल्दबाजी को हम उनका गुण कहें या अवगुण, समझ में नहीं आता। किसी भी काम का निर्णय वे बहुत जल्दी कर डालते हैं, फिर उसे बदलना ही पड़े। इसके कारण साथी कार्यकर्ताओं को कई बार बड़ी परेशानी हो जाती है। यद्यपि जल्दबाजी के कारण इन्होंने कुछ मामले ऐसे भी निपटाये कि जिनमें बाद में बरसों लग जाने पर भी कोई हल नहीं निकल पाता। किसीके बारे में सुन-सुनाकर राय बना लेना भी इनकी जल्दबाजी में आ जाता है।

हिसाब-किताब के विषय में आप बिलकुल साफ और बेदाग रहते हैं। किसी की एक पाई भूल से भी घर में ज्यादा न आ जाय, इसका वे बारीकी से ध्यान रखते हैं। एक बार उन्होंने एक सज्जन से किसी स्टेशन पर दो आने ले लिये। बाद में देना भूल गये। जब खयाल आया तो दो आने के टिकट दो आने के

लिफाफे में लौटाये ! वहीखातों की गुत्थियों को मिनटों में सुलझाने में आप विशेषज्ञ माने जाते हैं। एक बार चर्चा-चर्चा में उन्होंने कह दिया कि "अरे, मैं १५ कंपनियों का डाइरेक्टर और मैनेजिंग डाइरेक्टर रह चुका हूँ।" उनका मतलब यह था कि हिसाब के मामले में उनकी भूल बताना आसान नहीं है। कुछ विचारकों का कहना है कि जो आदमी गणित में पक्का होता है और हिसाब में साफ होता है, वह सच्चा और सरलहृदय होता है। उसमें छल-कपट और दुराव-छिपाव को जगह नहीं होती। नगर में उनकी गणना एकमेव 'व्यवहार-चतुर' के रूप में होती है।

आजकल वे प्रवास काफी करते हैं। आजकल जब कि गाड़ियों में काफी भीड़ होती है और प्रवास में तरुण भी हिचकिचाते हैं, वहाँ चिरंजीलालजी महीने में पचीस दिन प्रवास करते हैं। उनका शरीर कुछ स्थूल है, फिर भी उनकी स्फूर्ति आश्चर्यजनक होती है। जहाँ भी वे जाते हैं, अपने परिचितों, मित्रों और सगे संबंधियों से मिले बगैर नहीं लौटते। समय कम हो, तो उसके अनुसार कम समय में ही सही, किंतु मिले बगैर जाना वे ठीक नहीं समझते। सारा प्रवास तीसरे दर्जे में ही करते हैं और कभी कोई गाड़ी नहीं चुकने देते।

उनसे जब पूछा गया कि हजारों कार्यों का भार सिर पर होने पर भी आप इतने मोटे कैसे बन गये, तो वे कह देते हैं कि 'नेकी कर और कुएँ में डाल'। किसने मेरे साथ कैसा सलूक किया, इसको भूल जाओ और आगे की समस्या को सोचो! चिंता करने से कुछ हाथ नहीं आता! वस्तुतः उन्होंने अपने जीवन में हजारों कार्य ऐसे किये कि अगर उनकी भली-बुरी प्रतिक्रियाओं का लेखा-जोखा दिमाग में रखें, तो सम्भव है कि वे दूसरे क्षण ही साँस छोड़ बैठें। वे एक बात और कहते हैं कि जो चीज हाथ से निकल गयी या जिसे हमने छोड़ दिया, उसके बारे में हमें एकदम निर्लेप हो जाना चाहिए। उससे चिपटे रहने में हमारा ही नुकसान है।

सद्ग्रंथों के स्वाध्याय की उनकी कामना अब दिनोंदिन प्रबल होती जा रही है। आँखों की ज्योति इतनी मन्द हो गयी है कि एकाएक किसीको पहचानने में भी तकलीफ होती है, फिर भी दो-एक अच्छे ग्रंथ उनके बस्ते में रहते

हैं और जहाँ भी कोई मिल जाता है, उससे सुनने लगते हैं। एक दिन उनके एक साथी ने उनसे कहा कि "भाईजी, इतने बड़े और गहरे ग्रंथ आप कैसे समझ लेते हैं, हमें तो शंका है !" तो उन्होंने अपना सीधा-सा उत्तर दिया, "जितना समझ में आये उतना ही सही, समय तो गपशप्पाजी में नहीं गया न !"

संक्षेप में कहा जा सकता है कि वे साधुओं में साधु हैं और गृहस्थों में गृहस्थ। गार्हस्थ्य और साधुत्व का संयुक्त यह व्यक्तित्व इतना भव्य, इतना उदार, इतना अनासक्त और इतना आकर्षक है कि उसे हम समाज का 'श्रीफल' और 'गौरव' कह सकते हैं।

वे उत्तरोत्तर विरागता की साधना की ओर बढ़ रहे हैं। हमारी कोशिश हो कि हम उनके चारों ओर उनकी रुचि का वातावरण ही निर्माण करें। अब उनको मानसिक क्लेश पहुँचाना समाज-शक्ति का अपमान है।

राजघाट, काशी
अक्तूबर, १९५६

—'जैन जगत्' में प्रकाशित

●

श्री चिरंजीलालजी वड़जाते के प्रति

ऐसा ही मानव जगती में नर-रत्न-रूप संज्ञा पाता

जीवन तो चलता रहता है, दिन पर दिन यहाँ गुजर जाते,
मानव भी चलता रहता है, कितने आते कितने जाते।
सव पेट भरा करते प्राणी, सवको कुछ करना पड़ता है,
व्यवहार चलाया करते हैं—उलझन में रहना पड़ता है ।।

पर, ऐसे व्यक्ति वहुत कम हैं जो सच्चा जीवन जी पाते,
जीवन की ज्योति जला करके जग को प्रकाश जो दे पाते।
दीपक उसको ही कहते हैं जो अन्धकार में है जलता,
वह स्वयं प्रकाशित होता है, औरों को प्रकाशित है करता।।
ऐसा ही मानव जगती में नर-रत्न-रूप संज्ञा पाता।।

—२—

औरों के प्रति जो प्रेम-भाव और दया-भाव दर्शाता है,
और सहज-प्रेम की भाषा में तन-मन जिसका झुक जाता है।
ऐसे नर कहाँ मिला करते जो वहुत सरल जो वहुत कठिन,
है हृदय फूल-सा कोमल पर कर्तव्य रूप में वहुत जटिल।।

क्रमवद्ध भावना की भाषा, सव रूप व्यवस्थित ही चलता,
व्यवहार-कुशलता अनुपम है, पर सरल सत्य से है ममता।
मैंने देखा है ऐसा नर जो **चिरंजीलाल** है कहलाता,
ऐसा ही मानव जगती में नर-रत्न-रूप संज्ञा पाता।।

—३—

अभिनन्दन की थाली लेकर, हम कुछ लेने ही आये हैं,
जीवन भर देते रहे सदा, विश्वास बाँधकर लाये हैं।
तुम औढर-दानी विश्रुत हो, कैसे निराश कर पाओगे,
औरों से छिपा सकोगे सब अपने से कब छिप पाओगे ॥

लेने में शर्म तुम्हें आती देने में सौख्य झलकता है,
यह ही जीवन का मन्त्र और सिद्धान्त बनाता चलता है।
कितने नर अनुप्राणित होकर काकाजी उनको कहते हैं,
कितनों के काज सँवारे हैं गुण-गौरव-गाथा गाते हैं ॥

वे युवक युवक को मात करे ऐसी फुर्ती इस वय में है,
तन-मन-स्फूर्ति से पूर्ण, पूर्ण सेवा-पूरित अवयव में है।
जो काम और से नहीं बने उनका विश्वास बना देता,
जो राह और ना चल पाये, उनका भगवान चला देता ॥
ऐसा ही मानव जगती में नर-रत्न-रूप संज्ञा पाता ॥

—४—

यह तन वृद्धत्व लिये अपनी जर्जर सीमा झाँका करता,
लेकिन फिर भी यह मनुज-देह कर्तव्य रूप का है नाता।
जब तक जो कुछ हमसे बनता तब तक सेवा इससे कर लो,
जब तक जो कुछ दे सकता हूँ ऋण-मुक्त हमें जग से कर लो ॥

यह नम्र भावना लेकर के दर-दर घर-घर और गाँव-गाँव,
पैदल, गाड़ी में कर प्रवास, पहुँचा करते हैं ठाँव-ठाँव।

क्योंकि अन्तर का प्रेमभाव से कहना रहता है,
वस वही खींचकर जहाँ कहीं ले जाना हो ले जाता है ।।

मंडल के वे पिता-तुल्य और सच कह दूँ तो मातृ-तुल्य,
माता जैसे पालन करती जीवन अर्पण करके अमूल्य ।
वस उसी तरह से वर्षों से युग वीत गया इतिहास वना,
मंडल को गौरवपूर्ण रूप देकर के तुम गम्भीरमना ।।

चल रहे आज उस गति से हो जिस गति से सितारे चलते हैं,
अमृत-सा पानी पाते हैं, गौरव का जीवन जीते हैं ।
धरती को एक वरदानरूप ऐसा ही नर है मिल पाता,
ऐसे ही मानव का प्रसाद चिरजीवी वनकर रह जाता ।।
ऐसा ही मानव जगती में नर-रत्न-रूप संज्ञा पाता ।।

–५–

तुम पैंसठ के हो गये आज पैंसठ वसन्त न्योछावर हैं,
पैंसठ वर्षा की मधुर धार कर चुकीं यहाँ मधु-वर्षण है ।
लेकिन पैंसठ गमी आकर के स्वेद बहाकर कहती थी,
कर्तव्य और सेवा तौलो तोले वह जिसमें ताकत है ।।

तौले वह जिसमें ताकत है, हिम्मत है इतना साहस है,
जीवन के मन्त्र फूँक दे यदि जीने की जिसमें क़ूवत है ।
इसलिए पसीने के मोती हिम्मतवालों को मिलते हैं,
लक्ष्मी फिर पानी भरती है, और सफल वही नर होते हैं ।।

उनको ही मिलती जयमाला जो जग से कुछ ऊपर उठते,
उनके ही जग गुण है गाता जो जीवन के साधक वनते ।

उनके पद-चिह्नों पर चलकर मानव गौरव अनुभव करता,
उनके विश्वासों में जग का युग-युग तक दीप जला करता ।।

ऐसे नर जैसे चिरंजीलाल इनका सम्मान किया करता,
ऐसे नर जो हैं निरभिमान, अभिमान समाज किया करता ।।

अभिनन्दन है तुमको इस क्षण,
अभिनन्दन तुमको रोज-रोज ।
अभिनन्दन सौ-सौ वरसों तक,
है अभिनन्दन मन के मनोज ।
मेरा, वर्धा का और समाज का,
अभिनन्दन स्वीकार करो ।
हममें भी गुण का अंशरूप
प्रेमलता का रस-भाव भरो ।।

स्व० राजमती

[जमनालाल जैन]

राजमती वर्धा के श्री चिरञ्जीलालजी बड़जाते की पुत्री थी। उसका जन्म सन् १६२८ में भाद्रपद सुदी २ को हुआ और सन् १६५१ की ३० सितम्बर को वह इस संसार से सदा के लिए चली गयी।

चिरञ्जीलालजी के यहाँ जन्म लेकर राजमती ने क्या पाया और कैसे पाया, इसका इतिहास उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना यह है कि जो कुछ उसे मिल सका, उसे उसने परिस्थितियों के अनुसार जीवन में कैसे उतारा। जीवन की विशेषता इसमें नहीं है कि सीधे रास्ते पर चलते-चलते समाप्त हो जायँ या कि जीना जी चुकें। दयनीय अवस्था, अपमानपूर्ण स्थिति, संकट और कष्ट-पूर्ण जीवन तथा आर्थिक कठिनाई के बीच ही आदमी की कसौटी होती है और ऐसी विपरीत परिस्थितियों में भी जो आगे बढ़ जाता है, दुनिया उसकी ओर आदर और ईर्ष्या की नजरों से देखने लगती है।

राजमती का बचपन अत्यन्त लाड़-प्यार में पला। चिरञ्जीलालजी का हृदय इतना कोमल, स्नेहल और परदुःखकातर है कि वे किसीका दुःख देख ही नहीं सकते। सन्तान के प्रति अत्यन्त स्नेह उनका स्वभाव है। ऊपर-ऊपर से देखने में किसीको ऐसा लग सकता है कि वे बहुत निर्मम हैं, परन्तु जो उनको निकट से जानते हैं, वे अच्छी तरह परिचित हैं कि वे उतने ही द्रवणशील हैं और यही तो कारण है कि किसीकी जरा-सी तकलीफ की बात सुनते ही वे बेचैन हो उठते हैं। रात-रातभर विचार करते बैठते हैं और चाहे जितना नुकसान उठाकर भी अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं और उस हालत में भी करते हैं, जब उन्हें बदले में किसी प्रकार का आराम और आदर तक नहीं मिलता। ऐसे पिता की संतान होकर राजमती के १६वर्ष किस सुख की गोद में पले होंगे, कल्पना की जा सकती है। प्यार आदमी को उठाता भी है और गिराता भी। जिस प्यार में विवेक और

मर्यादा का अभाव होता है, वह गिराता ही है और इतना गिराता है कि विचार और चेतना ही लुप्त हो जाती है। राजमती को पिता के प्यार में इतना अवश्य मिला कि वह श्वशुर-कुल में अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को विलीन कर सकी और इसमें उसकी तेजस्विता भले ही न हो, वेदनापूर्ण सहिष्णुता अवश्य थी।

उसके बचपन की ऐसी कोई घटना हमें याद नहीं, जिसे हम उसकी विशेषता के रूप में पेश कर सकें। हाँ, वह भोली थी और इतनी भोली थी कि शायद और लड़कियों से उसका मेल नहीं बैठता था। प्राथमिक शिक्षण पूरा होने पर उसे दो वर्ष तक महिलाश्रम में रखा गया। महिलाश्रम गांधी-विचारधारा की संस्था है, जहाँ पर हर छात्रा को अपना पाखाना तक साफ करना पड़ता है और वह इसलिए कि उस कार्य के प्रति हीन दृष्टि न रहे। चिरञ्जीलालजी यद्यपि सुधारक हैं, दो बार जेलयात्रा कर चुके हैं और स्व० जमनालालजी के सम्पर्क से उनमें किसी वर्ग के प्रति घृणा या तिरस्कार नहीं रहा, परन्तु जहाँ तक परिवार का प्रश्न है, वे अपनी चीज को किसी पर जबरदस्ती थोप नहीं सके हैं। राजमती जिस वातावरण में रही, वह पाखाना साफ करने के बहुत कुछ पक्ष में नहीं था, बल्कि कहा जा सकता है कि वहाँ जातीयता ही अधिक थी। फिर भी राजमती ने महिलाश्रम में वह काम किया और प्रसन्नतापूर्वक किया। यही कारण था कि पिता की प्रेरणा पाकर वह सन् १९४२ में ६ मास के लिए जेल भी हो आयी।

पाखाना साफ करने और लड़की होकर जेल चले जाने की बात को हम बहुत बड़ी बात समझते हैं। बड़ी यों कि राजमती जिस समाज में पैदा हुई थी, उसमें ऐसी बातें करना भी धर्मभ्रष्टता में आता है। और यही साहस उसने अपनी बीमारी में भी बतलाया। भयंकर-से-भयंकर आपरेशन में भी उसने उफ् तक नहीं की और आपरेशन के घाव का टाँका खुलने के बाद भी उसने किसी पर अपनी वेदना प्रकट नहीं होने दी। उसकी इस अद्भुत शक्ति से डॉक्टर तक चकित रह गये।

उसके जैसी सहनशीलता बहुत कम बहू-बेटियों में पायी जाती है। कहा जाता है कि बहू-बेटी का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रहता और परिवार के वातावरण में अपने को मिटा देना पड़ता है। यह कुछ अंशों में ठीक है; पर एक

पढ़ी-लिखी और प्यार में पली लड़की बहुत कम ऐसा कर सकती है और विचार-भिन्नता के कारण कलह भी होता रहता है। राजमती पढ़ी-लिखी थी और ऐसे बाप की बेटी थी, जो अपने व्यक्तित्व को शायद ही भूले। पर उसने श्वशुर-कुल में जिस सहनशीलता और विवेक का परिचय दिया, उसके मूल में उसके पिता का वह संस्कार था, जो सहनशीलता की चरम-सीमा पर पहुँचा हुआ है। यही तो वह बात थी, जिसके कारण उसकी सास ने और उसके पति ने उसकी अद्भुत सेवा की और ऐसा तभी हो सका, जब राजमती अपने सास-ससुर का मन जीत सकी थी। अनूपलालजी ने उसकी सेवा करके जिस स्नेह और संयम का परिचय दिया, वह बहुत कम देखने में आता है।

उसकी शादी होने को कुछ ही दिन बीते थे कि वह अपने पति तथा जेठ-जिठानी के साथ सिनेमा गयी। सिनेमा-घर तक पहुँचे थे कि उसके श्वशुर आ गये और कहने लगे कि "तुम लोग मेरी नाक काटकर रहोगे।" जेठ-जिठानी तो जोश में आ गये और कह दिया कि "जाओ, आपसे जो बन पड़े कर लो, हम तो जायँगे।" वे यह सुनकर और गरम हो गये। दस-बीस आदमी जमा हो गये। वे पुराने संस्कार के आदमी थे। राजमती ने कहा : "भाभीजी, आज घर पर ही चलें। जिंदा रहेंगे, तो जीवनभर सिनेमा देखेंगे। आज तो हम अपने घर का सिनेमा न बनायें।" यह था उसका विवेक, जिसके कारण उसके घर का नाटक बंद हो सका। सिनेमा-घर तक जाकर लौट जाना कोई छोटी बात नहीं है और कम-से-कम उसके लिए तो नहीं होती, जो नव-वधू हो! पर यह चीज राजमती को अपने पिता से मिली थी और विपरीत वातावरण तथा संस्कारों में जाकर ही उसके इस गुण की कसौटी हुई और उस कसौटी का अन्त उसकी मृत्यु में ही हुआ।

उसका विवाह उदयपुर के श्री अनूपलालजी अजमेरा के साथ हुआ था। शादी के बाद ही वे बी० ए० और एल० एल० बी० हुए। राजमती की सहिष्णुता का प्रारंभ विवाह से ही शुरू हो गया। अनूपलालजी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विशेष कार्यकर्ताओं में से हैं। कहाँ पिता का गांधीवादी दृष्टिकोण और जीवन तथा कहाँ पति का उसके ठीक विपरीत आर० एस० एस० वादी दृष्टिकोण। ऊपर

से श्वशुर का रूढ़िवादी संस्कार ! राजमती ने समझ लिया कि यहाँ कुशलता इसीमें है कि अपने को समर्पित कर दिया जाय।

सेवा-वृत्ति उसकी नस-नस में व्याप्त थी। चिरञ्जीलालजी सेवा का कोई अवसर नहीं चूकते और जहाँ तक बनता है, अपने विरोधी का भी पूरा ध्यान रखते हैं। राजमती में भी यह चीज थी। कलकत्ता में जब उसकी जिठानी के बच्चा हुआ और वह अलीपुर के सूतिकागृह में थीं, तब राजमती उनके लिए दोनों बार भोजन, नाश्ता आदि लेकर बड़ा बाजार से वहाँ तक ट्राम पर चढ़कर और अपनी बच्ची को साथ रखकर पहुँचती थी। उसे इस श्रम और सेवा में आनन्द आता था। एक मारवाड़ी महिला का इस तरह ट्रामों में चढ़कर पैदल चलकर जाना साहस की बात है और अगर मन में सेवा की भावना न होती, तो राजमती ऐसा कहाँ कर सकती थी! यह उस समय की बात है, जब उसके पति आर० एस० एस० की ओर से जेल में थे। उनसे मिलने के लिए वह लम्बा रास्ता काटकर जेल पहुँच जाती थी। एक बार उसने कहा : "महिलाएँ भी पुरुषों से कम नहीं होतीं। जब सन् '४२ में अंग्रेजी सल्तनत के सिपाही ही मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सके, तब आज तो मुझे डर ही किस बात का है!"

वह लगभग तीन साल तक क्षय से बीमार रही। चिरञ्जीलालजी ने हजारों रुपया खर्च करके विविध उपचार करवाये। उसे मिरज, पेंड्रा रोड आदि के सेनिटोरियम में भेजा, आपरेशन करवाये, परन्तु रोग से वह मुक्त न हो सकी और अंत में उसकी मृत्यु हो गयी। बीमारी में पिताजी ने उसके पढ़ने के लिए सुविधा भी कर रखी थी। घर पर आनेवाले कई समाचार-पत्र, धर्म-ग्रंथ आदि वह पढ़ती रहती थी। इससे उसका धार्मिक ज्ञान भी बढ़ता गया था और सहन-शक्ति में भी मदद मिलती थी। यही कारण था कि असह्य वेदनापूर्ण स्थिति में भी वह हँसती रहती थी और एक प्रकार से उसने मृत्यु के भय को जीत लिया था।

विवाह के बाद वह सात वर्ष तक जीवित रही। पर गृहस्थी का सुख जिसे कहते हैं, वह उसे बहुत कम मिला। उसके पति रा० स्व० से० संघ की निष्ठा के कारण संघ के कार्य में अधिकतर व्यस्त रहे और घर पर ,जो वातावरण था

वह अनुकूल नहीं था। उसे दो बच्चियाँ हुईं, पर उनको ठीक से प्यार भी वह न कर सकी।

बच्चों की परवरिश के बारे में वह बहुत सावधान रहती थी। वह अपनी बच्ची को कोरा दूध कभी नहीं पिलाती थी। वह जानती थी कि छोटे बच्चों को जल्दी अन्न देना शुरू करने से उन्हें लीवर की शिकायत हो जाती है। घर की महिलाएँ इसके कारण को समझ नहीं पाती थीं। सास से कहा जाता कि ज्यादा अन्न नहीं खिलाना चाहिए, तो वे कहतीं कि बच्चों को तो खिलाना ही चाहिए, बच्चों का पेट तो फूला रहता ही है। और इस तरह जब उसने देखा कि चाहे जैसी वस्तुएँ खिलाते रहने से बच्ची कमजोर हो गयी है, तो उसको काफी वेदना हुई। वह जानती थी कि पुराने विचार के लोगों को आरोग्य के नियमों की जानकारी न होने से ही यह सब होता है।

यों उसके जीवन की कोई विशेष घटनाएँ न भी मिलें और एक प्रकार से उसके जीवन को सामान्य जीवन ही कहा जा सकता है, तो भी वह साफ दिल, नेक विचार और सेवाभावी लड़की थी। यह बात दूसरी है कि उसे परिवार की परिस्थिति में घुल-मिल जाना पड़ा और प्रकट रूप में उसने कभी अपनी भिन्नता व्यक्त नहीं की, फिर भी उसका हृदय इतना भावनाप्रधान और कच्चा अवश्य था कि वह बात को पी तो जाती थी, पर पचाना उसके लिए सरल नहीं था। पचाने के लिए जिस ताकत की जरूरत होती है, वह उसमें नहीं थी और यही कारण है कि वह बीमार हो गयी। जो आदमी विरोध और वैषम्य को पचा जाता है या बाहर प्रकट रूप में निकाल फेंकता है, उसके मन में किसी प्रकार का भाव नहीं रहता; लेकिन जो प्रकट नहीं करते और वेदना सहते हैं, ऐसे लोग बीमार ही हो जाते हैं। बीमार होने पर भी उसने बहुत दिन तक बीमारी को बताया नहीं।

वह गृहस्थी की छोटी-मोटी बातों को खूब जानती थी। वह हमेशा अपने पति से कहा करती थी कि किसीका एहसान सिर पर नहीं रखना चाहिए। एहसान नमक का भी ठीक नहीं। और उसकी यह बात व्यावहारिक दृष्टि से बड़ी मार्के की थी। यों आदमी एहसान से कब मुक्त रहा है—हर आदमी एहसान की गोद

में पलता है, बढ़ता है, पर वह एहसान किस काम का, जो आत्मा को दीन और पतित बनाये, स्वाभिमान को गिराये। उसका संकेत इसी ओर था। इसी तरह कर्ज से भी वह घबराती थी। वह कहती थी कि जिसका देना है, उसे बुलाकर दे देना चाहिए। इससे परेशानी कम होती है और शान भी रहती है। और हम कह सकते हैं कि यह चीज उसके भीतर पिता से आयी थी। चिरंजीलालजी का जिन्हें अनुभव है, वे जानते हैं कि कर्ज के नाम से वे कितने घबराते हैं और कहीं उन्हें मालूम हो जाय कि अमुक आदमी उनके बारे में अमुक बात कर रहा था, तो वे प्यारी-से-प्यारी वस्तु को बेचकर, चाहे जितनी हानि उठाकर भी उसका रुपया पहुँचा देते हैं। ऐसे बाप की बेटी कर्ज करके शौक कैसे कर सकती थी?

अन्त-अन्त में उसका झुकाव अध्यात्म की ओर हो गया था। वह हमेशा कहा करती थी कि अब मैं नयी साड़ी पहनूँगी। नया शरीर धारण करूँगी। मरते समय भी उसने अपनी माँ से कहा : "माँ, चिंता छोड़ो, मैं अकेली आयी और अकेली जा रही हूँ। हम सबका इतना ही साथ था।" यह उसकी बीमारी और धर्म-ग्रंथों के पढ़ने का स्वाभाविक परिणाम था।

वह चली गयी केवल २३ वर्ष की उम्र में। लेकिन अध्यात्म ने उसे आत्मिक आनन्द दिया और इसीके आधार पर उसमें हिम्मत रही और अन्त समय वह अनासक्त भाव रख सकी।

उसकी स्मृतिस्वरूप दो बच्चियाँ हैं, जिनमें से एक उसकी भाभी के पास रहती है और एक उसकी माँ के पास*। बड़ी होकर वे अपनी माँ के गुण को विस्मरण नहीं करेंगी, ऐसा सोचना व्यर्थ नहीं होगा।

वर्धा
२८-११-५१

—'महावीर का जीवन-दर्शन' पुस्तक से

●

---

* एक पुत्री रमा का विवाह अभी-अभी हो गया है।

चिरंजीलाल बड़जाते

[महात्मा भगवानदीन]

श्री चिरंजीलाल बड़जाते को, अगर मैं भूलता नहीं हूँ, तो सन् १९१७ से जानता हूँ। और जानता हूँ सेठ चिरञ्जीलाल के नाम से। जिस तरह सागर में लहरें आती हैं, पर अपना कोई अस्तित्व नहीं रखतीं, या जिस तरह बादल अनेक रूप धारण करते हैं, पर उसके रूप स्थिर नहीं रहते, या जैसे स्वर्ण अनेक गहनों के अस्थिर पर्यायों में निकलता रहता है और सदा स्वर्ण ही बना रहता है, वैसे ही ये सेठ चिरञ्जीलाल इस संसार की व्यावहारिक झील-पहाड़ियाँ लाँघ चुके हैं, ऊँच-नीच देख चुके हैं और सेठ-के-सेठ बने हुए हैं। इस संसार ने समय-समय पर इन्हें थपेड़े दिये, पर वह इनसे न सेठ की पदवी छीन सका, न इनके मन से सेठपने का व्यवहार खोंस सका। इसे आप बिलकुल सच समझिये कि भारत के सबसे बड़े और सबसे प्रसिद्ध आदमी से लेकर भारत के सबसे छोटे आदमी तक ऐसे मिल जायँगे, जो इनके एहसान से लदे मिलेंगे। भले ही गिनती एक अँगुली पर ही गिने जाने योग्य हो।

ये किसी धर्म में पैदा तो हुए हैं और किसी जाति में भी पैदा हुए हैं, पर इनके व्यवहार से यह पता लगा बैठना कठिन है कि ये किस धर्म के अनुयायी हैं और किस जाति के। श्री जवाहरलालजी के साथ 'नेहरू' शब्द मुझे बहुत खटकता है, वैसे ही इनके साथ 'बड़जाते' खटकता है। जवाहरलाल को जब कोई जवाहर चाचा या जवाहर काका कहकर पुकारता है, तो मेरा दिल खिल उठता है। वैसे ही मेरा मन बड़ा आनन्द मानेगा, अगर श्री चिरञ्जीलाल बड़जाते 'चिरञ्जी भैया' कहकर पुकारे जाने लगें। यह यहाँ है तो बेतुका, पर जब जबान पर आ गया है, तो कहे देता हूँ कि मुझे कम्युनिस्टों से बड़ी मोहब्बत है। पर उनका कॉमरेड शब्द मुझे 'कामरेड़' सा मालूम होता है। कानों को जँचता ही नहीं। हिन्दुस्तान का 'भाई' 'भैया' शब्द कितना प्यारा है! इसे लोग क्यों नहीं अपनाते? श्री जवाहरलालजी नेहरू के पिता 'मोतीलाल नेहरू' नाम से कम जाने जाते थे। वे तो 'भाईजी' नाम से प्रसिद्ध थे। वे घर में भी 'भाईजी' ही थे। होता कि श्री चिरञ्जीलाल बड़जाते घर-बाहर सभी जगह 'चिरञ्जी भाई' या 'भैया चिरञ्जी' होते। पर अब तो वे सेठजी हैं और शायद वही बने रहेंगे।

गांधी की आँधी में जो फँस गया, वह अंग्रेजी सरकार की आँख का काँटा बने बिना न रहा। फिर चाहे वह धूल का कण हो या घास का तिनका। अंग्रेज की आँख में आमतौर से और कट्टर अंग्रेज की आँख में खास तौर से किरकता ही रहता था और किरकनी आँख पर हाथ जाना स्वाभाविक ही है और उस कण या तिनके का दबना भी स्वाभाविक है। फिर हमारे ये सेठजी जेल की हवा खाये बिना कैसे रह सकते थे? और फिर श्री जमनालालजी (१९२१ के भामाशाह) के पड़ोस में बसनेवाले उनके रंग में रँगे बिना कैसे बच सकते थे।

तीरथ पर रहनेवाले पंडे तीरथ को जितना समझते हैं, उतने न यात्री समझ सकते हैं, न उस धर्म के पंडित और न महापंडित। तीर्थ की असलियत क्या है, यह पंडे ही जानते हैं। होता कि ऐसी कोई मशीन तैयार हो गयी होती, जिसकी सहायता से इनके मन में झाँका जा सकता, तो तीर्थ की असलियत का पता लग जाता और फिर वह-वह दृश्य देखने को मिलते कि हम सब दाँतोंतले अँगुली दाबकर रह जाते। याद रहे, पण्डे और केवल पंडों के दिलों में ही झाँकने से काम चल सकता है। तीर्थस्थान में बसनेवाले साधारण आदमियों के दिलों में झाँकने से कुछ-का-कुछ दिखाई दे सकता है। बस, वर्धा और उससे लगा सेवाग्राम (पुराना सेगाँव) मुद्दत से तीर्थ है और आज भी तीर्थ है। इस तीर्थ के देवता गांधीजी के जीते-जी हमारे ये सेठ चिरञ्जीलाल बड़जाते उसके महापंडे नहीं, तो उप महापंडे रह चुके हैं। इसलिए इनके अन्दर झाँकने से वे दृश्य देखने को मिलेंगे, जो इतिहास को नसीब नहीं हो सकते। पर न हम झाँक सकते हैं, न ये झाँकने दे सकते हैं।

इससे सारी दुनिया वाकिफ है कि साबरमती की तरह वर्धा और सेवाग्राम आज़ादी के महादेव के कैलाश रह चुके हैं। और फिर यह तो समझ ही लेना चाहिए कि वहाँ आये दिन आज़ादी के देवता आते रहते होंगे और उस नगरी को पवित्र करते रहते होंगे। जिस तरह हमारे सेठ जमनालालजी के बँगले की चप्पा-चप्पा भूमि का कण-कण आज़ादी के देवता और महादेव के चरणों से पवित्र है, वैसे ही हमारे इन सेठ चिरञ्जीलाल बड़जाते की पक्की कुटी का कण-कण किसी न-किसी देवता की चरण-धूलि से सम्पर्क कर चुका है। और अगर वर्धा की रज मस्तक पर लगाने योग्य है या जिनको लगाने योग्य प्रतीत होती

है, तो वे हमारे सेठ चिरञ्जीलाल की पक्की कुटी के आसपास की धूल निधड़क हो माथे से लगा सकते हैं। यह ठीक है, हम अलंकारिक ढंग से लिख रहे हैं, पर इससे हम अपने पाठकों को सचाई के सूरज की चकाचौंध से ही तो बचा रहे हैं, कुछ हानि तो नहीं कर रहे।

सेठ चिरञ्जीलाल आज २२ अगस्त, सन् १९६० को जीवित हैं। सितम्बर महीने की बारह तारीख को वर्धा में उनका जन्म-दिन मनाया जाने को है। इसलिए हमारी लेखनी ने क्या लिखा है, इसे छोड़कर आप उनसे मिलिये और फिर देख लीजिये कि वे आप पर किस तरह जादू कर देते हैं। किसीके हिस्से में कुछ पड़ा और किसीके हिस्से में कुछ, इनके हिस्से में आयी है गांधीजी की विनम्रता। अगर कहीं गांधीजी की महानता भी इनके हाथ लग गयी होती, तो यह विनम्रता खिल उठती और इसकी गंध देश छोड़ विदेशों को जा छू लेती। पर अब तो वह अपनी गंध और पंखुड़ियाँ सिकोड़े सीमित क्षेत्र को ही सुवासित और प्रफुल्लित करती रहती है। पंडा जैसे बिना तीर्थ के नहीं रह सकता, वैसे ही बिना देवता के भी नहीं रह सकता। और यह हम कह ही चुके हैं कि हमारे सेठ चिरञ्जीलाल पंडा रह चुके हैं और शायद जीवनभर बने रहेंगे। तीर्थस्थान तो इनका बना-बनाया है। देवता ये खुद बना लेते हैं। देवता गढ़ने की कला में मनुष्य युगों से मशहूर चला आ रहा है, वह लकड़ी-पत्थर के भी देवता गढ़ लेता है और हाड़-मांस के भी। चिरञ्जीलाल आखिर आदमी हैं। इन्हें क्यों कठिनाई होनी चाहिए? इसलिए आज भी वर्धा देवताविहीन नहीं। भले ही विनोबाजी वर्धा की मथुरा छोड़ इन्दौर की द्वारिकापुरी बसा लें या रमते राम का बाना आमरण पहने रहें।

हमने श्री चिरञ्जीलालजी बड़जाते को बहुत पास से देखा है। छाती-से-छाती मिलाकर देखा है। कभी-कभी उनका मुँह हमारी छाती से आ लगा है, इसलिए हम अगर उन पर लिखने बैठ जायँ, तो एक बड़ी किताब बन सकती है। पर कम बोलने में जो मजा है और कम लिखने में जो आ सकता है, वह ज्यादा बोलने में कहाँ और ज्यादा लिखने में कहाँ समा सकता है। इसलिए यहीं पूर्णविराम किये देते हैं।

●

स्नेह-मूर्ति चिरंजीलालजी

[श्री रिखभदास रांका]

भाई चिरञ्जीलालजी को मैंने पहले-पहल नागपुर-कांग्रेस के अवसर पर देखा। जैन पोलिटिकल कान्फरेंस का अधिवेशन श्री पन्नराजजी जैन रानीवालों की अध्यक्षता में हुआ था। अधिवेशन टाउन-हॉल में हुआ था और उसके मूल प्रेरक चिरञ्जीलालजी ही थे। मैंने देखा कि इनमें सामाजिक तथा राष्ट्रीय कार्यों के प्रति इतनी अधिक दिलचस्पी थी कि ये अपने कारोबार की तरफ से लापरवाह रहते थे। स्वभाव भी बचपन से उदार रहा। आये हुए किसी भी व्यक्ति को 'ना' कहना तो उन्होंने सीखा ही नहीं। आखिर परिस्थिति यह आ गयी कि वे लखपति से कर्जदार बन गये और सेठजी से मुनीम बन गये। जब मेरा इनसे घनिष्ठ संबंध आया, तब ये सेठ जमनालालजी के यहाँ मुनीमी करते थे।

मैं सन् १६२६ में वर्धा आया। मैं राष्ट्रीय विचारों का था और सेठ जमनालालजी के आकर्षण से ही आया था। अतएव चिरञ्जीलालजी से मेरा परिचय और सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। मेरी वृत्ति को देखकर चिरञ्जीलालजी को खुशी होती थी और हम दोनों निकट आते गये। पहली बार मैं केवल साढ़े तीन साल तक ही वर्धा रहा। मेरा सौभाग्य है कि इस अर्से में ही उनका प्रेम-पात्र बन सका और तभी से हमारा स्नेह अक्षुण्ण रहा है।

चिरञ्जीलालजी सेठ से मुनीम बन गये, लेकिन उनका श्रेष्ठित्व (सच्चा सेठ-पन) उत्तरोत्तर चमकता ही रहा। समाज में और जनता में वे सेठजी ही रहे। किसीको उन्हें 'मुनीम' सम्बोधित करते मैंने नहीं देखा। सार्वजनिक कार्य, अतिथि-सत्कार तथा खिलाना-पिलाना कम नहीं हुआ। ये सारे काम तो आज भी ज्यों-के-त्यों चलते हैं। अतिथि-सत्कार तो जैसे उनकी उपासना बन गयी है। खिलाये-पिलाये बिना उन्हें कल नहीं पड़ती। और अगर सामनेवाला जैन हो, तो फिर वह बचकर नहीं निकल सकता।

यदि कोई उनके यहाँ से बिना खाये-पिये चला जाय, तो उन्हें कितना दुःख होता है, इसका अनुभव भी कई बार मैं कर चुका हूँ। उनका हृदय अत्यन्त कोमल एवं भावनाप्रधान है। इस कारण तुच्छ दिखनेवाली खाने-पीने की बात से भी इतने दुःखित हो जाते हैं कि उस रात को वे सो नहीं पाते। कई दिनों तक उन्हें इस बात से रह-रहकर दुःख होता रहता है। धर्मपत्नी और पुत्रों से भी ऐसे प्रसंगों पर उलझ पड़ते हैं।

जैसे उन्हें दूसरों को खिलाने-पिलाने में आनन्द आता है, वैसे ही आपको पर-सेवा करने में प्रसन्नता होती है। दूसरों के संकट में काम आना आपकी विशेषता है। संभव है, आपके अच्छे दिनों में वे आपके यहाँ खाने-पीने को न भी आयें, पर आप संकट में होंगे, तो वे आपके पास पहुँचे बिना नहीं रहेंगे। आपके दुःख के प्रति सहानुभूति बताकर ही वे चुप नहीं रह जाते, अपनी शक्ति से अधिक करेंगे भी। इस प्रकार शक्ति से अधिक बोझ उठाकर अनेक बार स्वयं दुःखी बनते हैं, कष्ट उठाते हैं, पर करें भी क्या, अपनी आदत से लाचार हैं।

उन्हें संसार और व्यवहार का अनुभव काफी है। सेठ जमनालालजी ने उन पर बड़े-बड़े कामों की जिम्मेदारी डालकर उनसे बहुत बड़े-बड़े काम करवाये, जिससे उनका व्यावहारिक अनुभव विशाल है। लेकिन उन्हें ठगाने में भी आनन्द आता है। उन्होंने अपना अलग ही एक नीतिकोश बना लिया है। यदि किसीको वचन दिया, आश्वासन दे दिया और उन्हें मालूम भी हो गया कि उन्हें उस व्यक्ति ने ठगा है, तो भी वे अपना वचन पूरा करना ही कर्तव्य मानते हैं। एक बार की बात है। किसी व्यक्ति को बहुत बड़ी रकम देने का वादा किया। कुछ रकम तो दे भी दी थी, कुछ देनी थी। पता चल गया कि उसने उनको गलत जानकारी दी थी। रकम आने की उम्मीद नहीं है, यह जानते हुए भी उन्होंने शेष रकम दी और उसमें से बहुत बड़ा हिस्सा डूब गया था।

सम्बन्धों को निभाने का भी उनका अपना तरीका है। वे सम्बन्धों को निभाने के लिए स्वयं तो बरदाश्त करते हैं, पर निकट-से-निकट सम्बन्धी या आत्मीय जन के यहाँ जाकर सेवा लेने में उन्हें अत्यन्त संकोच होता है। वे मिलने जायेंगे अवश्य, फिर वह मुलाकात खड़े-खड़े क्यों न हो; पर किसीको भूलेंगे

नहीं। पर खाने-पीने का समय टालकर जायेंगे। ये प्रवास इतना करते हैं कि इनके दोस्तों को इन पर तरस आता है। स्थूल और व्याधिग्रस्त शरीर, इन्द्रियों का नियंत्रण भी कम होते चला है। फिर भी हजारों मील की मुसाफिरी वे थर्ड क्लास में ही करते हैं। गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के रास्ते में यदि मेल-मुलाकात-वालों से मिलना सम्भव हो और उतरना शक्य हो, तो वे उतरेंगे। स्टेशन पर नहा-धोकर तथा खाना खाकर ताँगे या वक्त पर जो सवारी मिले, उसमें बैठकर शहर में सभी के यहाँ जाकर मिल आयेंगे। बहन, बेटी, बच्चे को देने में भी नहीं भूलेंगे। पर दूसरों के यहाँ खाने-पीने में अवश्य संकोच करेंगे। उनको सदा इसका ध्यान रहता है कि मेरे द्वारा किसीको कष्ट न हो। भले ही उनकी इस संकोच-शीलता ने उनको रोगी और व्याधिग्रस्त बनने में सहायता की हो, पर न तो घूमने-फिरने की आदत छूटती है, और न संकोच ही।

सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यों की रुचि होने के कारण उन्होंने कई संस्थाओं में काम किया। खतरा उठाकर भी राष्ट्रीय आंदोलन में जेल गये। सामाजिक सुधारों के कारण बहिष्कृत भी हुए; पर जो जँचा, वह करते ही गये। अछूतोद्धार और विधवा-विवाह जैसे काम उन्होंने आज से तीस साल पहले हाथ में लिये थे। और उसके लिए काफी सहना भी पड़ा, पर उन्होंने अगणित संकट आने पर भी इस कार्य से मुख नहीं मोड़ा। विधवाओं को फिर से गृहस्थी बसाने में सहायता की। वैसे तो उन्हें सभी धर्मों के प्रति आदरभाव है और सभी धर्मों के संतों और साधुओं के पास जाकर उपदेश सुनते रहते हैं, फिर भी जैन-धर्म और जैनों के प्रति भी कम प्रेम नहीं है। जैनों के परस्पर झगड़ों को देखकर उन्हें असह्य वेदना होती है और सभी जैनी मिल-जुलकर प्रेम से रहें, ऐसी उनकी भावना रहने से उन्होंने वर्षों से भारत जैन-महामण्डल द्वारा प्रयत्न शुरू किये, जो अब तक बराबर चल रहे हैं। मण्डल की जिम्मेदारी उन्होंने नहीं ली, पर आयी थी। श्रीजुगमन्दिरलालजी ने अपने अंतिम समय पर उन्हें मण्डल सौंपा था। तब से बराबर उसे बच्चे की तरह सँभाल रहे हैं। समाज-कल्याण की उनकी भावना तो तीव्र है, पर समाज के कार्य या संस्था के कार्य के लिए माँगने में भी उन्हें संकोच होने से उपयोगी और महत्त्वपूर्ण कार्य होते हुए भी समाज में वह अधिक फैल नहीं पाता है, पर

चिरञ्जीलालजी का अपना तराका है। जो भी हो, वे स्वयं तथा अपने मित्रों द्वारा इस काम को चलाते रहे, पर न माँगने के व्रत को भी निभाते आये।

उनमें आज भी समाज व देश-हित की वही भावना भरी हुई है, जैसी कि प्रारंभ में थी। भले ही शरीर काम दे या न दे, पर वे आज भी परहित के लिए उतने ही तत्पर हैं, जितने युवावस्था में थे। सेवा उनका व्यसन ही है। ऐसे पर-हितकारी, समाजसेवी पैंसठ वर्ष पूरे कर छाछठ में प्रवेश कर रहे हैं, यह सौभाग्य की बात है। भगवान् उन्हें स्वास्थ्य और अधिक आयु देकर उसके द्वारा समाज-हित करवाये, यही कामना है। उनके जीवन के अनेक पहलुओं का उल्लेख इस छोटे-से लेख में संभव नहीं है, फिर उनका-मेरा सम्बन्ध भी इतना निकट का तथा आत्मीय है कि अधिक लिखने में वह बाधक है। अतः इन कुछ पंक्तियों द्वारा उनके प्रति आदर प्रकट कर रहा हूँ। यह उनके जीवन का या गुणों का दर्शन नहीं है, वह तो कोई साहित्यकार और समर्थ लेखक ही कर सकता है।

लक्ष्मी महल, फ्लैट नं० ६,
बम्बई-२६

सहृदय-पुञ्ज : करुणा विभूति : कुटुम्वशील : विनयपूर्ण

श्री चिरंजीलालजी वड़जाते

[भानुकुमार जैन]

असंख्य लोग श्री चिरञ्जीलालजी वड़जाते से परिचित हैं। मैंने शीर्षक में ऊपर जितने विशेषण उनके नाम के पहले लगाये हैं, मैं चाहूँगा कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मिले, जो कहे कि मेरे ये विशेषण गलत हैं। मुझे विश्वास है कि ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा। इसलिए मैं इसी लेख में और भी उनके अनेक गुणों का वखान करूँगा। श्री चिरञ्जीलालजी में सरलता, परदुःख-कातरता और छोटे-वड़ों सबके प्रति श्रद्धावनत रहने का भी एक विशेष गुण है। जीवन के क्षेत्र में कर्मठ, व्यावहारिक और चतुर होते हुए भी जीवन और समाज के क्षेत्र में वे निश्छल, परोपकारी और अपरिग्रही हैं। वे विद्वान् नहीं हैं, वे नेता नहीं हैं, वे व्यापारी नहीं हैं और वे नौकर भी नहीं हैं; लेकिन वे एक सहज मानवरूप हैं। उनमें मनुष्यता है और सौजन्य है। स्वार्थ की कामना नहीं, लेकिन उन्होंने धन कमाया, खूब कमाया और खूब बाँट दिया। अतः वे धन के नाथ से अनाथ हो गये हैं। इसलिए ऐसे व्यक्ति को अब क्या कहा जाय? मेरी दृष्टि में संन्यासी ही क्यों न कहा जाय? परम्परागत वेशभूषा और कर्मकांड के लिहाज से नहीं, वल्कि संन्यासी के समान जीवन में आचरण को अंगीकार कर लेने के लिहाज से।

इस लघु-से दीखनेवाले, लेकिन विराट् मनवाले महापुरुष श्री चिरञ्जीलालजी वड़जाते को उनकी ६५वीं वर्षगाँठ पर मेरी शत-शत विनयपूर्ण भावभीनी श्रद्धांजलि और गद्गद हृदय से कामना है कि उन्हें दीर्घायु प्राप्त हो और वे और अधिक मानव-मनों को अपने वश में करें।*

---

* मेरा और श्री ऋषभदासजी रांका का यह विचार था कि उन्हें इस अवसर पर एक अभिनन्दन-ग्रंथ तैयार कर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि प्रदर्शित की जाय, लेकिन 'जैन-जगत' में इस सम्बन्धी सूचना निकलते ही श्री चिरंजीलालजी की ओर से इसका घोर विरोध हुआ और उन्होंने ऐसे किसी आयोजन में शामिल होकर इस तरह का अभिनन्दन-ग्रंथ स्वीकार करने के लिए साफ नकार किया। अतः उस विचार को रद्द करना पड़ा।

बड़े भाई

[श्री ताराचन्द एल० कोठारी, बम्बई]

एक रोज श्री भानुकुमार जैन ने मुझसे श्री चिरंजीलालजी का परिचय कराया। चिरंजीलालजी ने मेरे सामने भारत जैन महामंडल की भूतकालीन भव्य प्रवृत्तियों तथा वर्तमान शिथिलता की चर्चा की। उनकी कोशिश मुझे महामंडल की प्रवृत्तियों में खींचने की रही। मेरे पास उन दिनों काफी संस्थाओं का काम था, अतः किसी नये काम में फँसने की इच्छा नहीं थी। फिर भी चिरञ्जीलालजी की सरलता और भावना ने मुझे आकर्षित कर लिया।

बाद में तो वे जब-जब बंबई आते, और अक्सर आते ही रहते हैं, मुझसे बराबर मिलते रहे और मंडल के हालचाल सुनाते रहते। आगे चलकर तो कुछ ऐसे संबंध बढ़े, मानो मेरी और उनकी साझेदारी हो और यह काम मुझसे चिपकता-सा दिखाई दिया। धीरे-धीरे मैं भी उसमें रस लेने लगा। संस्था आत्मीय हो चली। चिरञ्जीलालजी में यह एक खास विशेषता है कि वे इस तरह आत्मीयता पैदा कर देते हैं कि कोई छूटना चाहकर भी नहीं छूट सकता। महामंडल के जितने भी साथी आज दिखाई पड़ते हैं, वे प्रायः ऐसी ही आत्मीयता की देन हैं। एक दिन मैंने सहज उनसे कहा कि महामंडल का एक पत्र होना जरूरी है। इतना सुनना था कि वर्धा जाकर उन्होंने तुरंत 'जैन जगत्' शुरू कर दिया, और उसके पाँच-छह संपादकों में एक नाम मेरा भी जोड़ दिया। 'जैन जगत्' नाम उन्हें इसलिए अच्छा लगा कि पहले इसी नाम का एक मासिक निकल चुका था और उसने समाज में सुधार तथा क्रांति के कार्य किये थे। लेकिन मैं था कि उसमें वर्षों तक एक पंक्ति भी नहीं लिख सका। स्वयं ने मेहनत की, खर्च किया और सन्मान बाँट दिया संपादकों को !

इस तरह प्रेमपूर्वक दरवाजा खटखटानेवालों को कौन कब तक बाहर खड़ा रख सकता है ? एक दिन वह आया कि वे मुझे महामंडल की प्रवृत्तियों में घसीटकर ले गये और ऐसे साथियों की भेंट दी, जिनका मित्र कहलाने में भी गौरव मिलता है।

धीरे-धीरे उनका परिचय बढ़ता ही गया। चिरञ्जीलालजी असल में सुख के नहीं, दुःख के साथी हैं और दुःख-भार को जितना हलका कर सकते हैं, वे अवश्य करते हैं। वे वस्तुतः परदुःखभंजक हैं।

एक-दो नहीं, कई संस्थाओं का काम वे निरन्तर करते रहते हैं—बगैर नाम के, बगैर सत्ता के और बिना अधिकार के ! न वे व्यासपीठ पर बैठेंगे, न अगुआ बनेंगे ! वे तो बैटरी हैं, जो अँधेरे में जलती–क्षीण होती रहती है और श्रेय बल्ब को मिलता है।

मैंने अपने जीवन में इस ढंग के केवल दो ही आदमी देखे हैं। एक थे, श्री मणिलाल मोकमचन्द शाह, जिन्होंने मुम्बई जैन युवक संघ और संयुक्त जैन विद्यार्थी-गृह को बढ़ाया और जिन-जिनके परिचय में वे आये, उन सबने उनको अपना माना और उनका प्रेम सबको उनकी प्रवृत्ति में खींचता रहा। मैंने उनको बुजुर्ग अथवा पूज्य माना था। दूसरे हैं हमारे श्री चिरञ्जीलालजी बड़जाते, जो उनकी सार्थकता से मेरे जीवन में बड़े भाई का स्थान सुशोभित कर रहे हैं।

०

आपका 'उनका उपकार नामक पत्रक पढ़ा। आपने जिस गहरी भावना से उसे लिखा है, उससे मन पर बहुत असर हुआ। जानकर खुशी हुई कि आपका ६४वाँ वर्ष चल रहा है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि आप दीर्घायु हों।

वर्धा में इस समय आप सब लोगों से मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई।

(एक पत्र से) —श्रीमन्नारायण

२५-२-'६९

आदर्श समाज-सेवक

[श्री पूनमचन्द बांठिया]

लगभग ३५ वर्ष से मैं चिरञ्जीलालजी के निकट संपर्क में हूँ। बारीकी से इनकी गतिविधियों का निरीक्षण भी करता रहा हूँ। मैं यह निश्चय से कह सकता हूँ कि इन जैसा आदर्श समाज-सेवक और मूक कार्यकर्ता मेरे देखने में नहीं आया। आपने समाज, देश और जैन-धर्म की जो सेवा की है, उसका अगर पूरा विवरण तैयार किया जाय, तो एक बड़ा-सा ग्रंथ हो सकता है। वह होना भी चाहिए। वह जैन-समाज के गत पचास वर्षों के उतार-चढ़ावों का सजीव इतिहास होगा।

यहाँ पर मैं उनकी कुछ खास बातें ही अत्यन्त संक्षेप में रख रहा हूँ।

जब पूज्य महात्मा गांधीजी ने हरिजनोद्धार का आन्दोलन छेड़ा, तब वर्धा में सर्वप्रथम श्री चिरञ्जीलालजी ही आगे आये। सन् '२८ में हरिजनों के लिए कुएँ खोलने का आंदोलन शुरू हुआ। वर्धा की सेठ बच्छराज धर्मशाला में एक आयोजन किया और धर्मशाला के कुएँ से हरिजन द्वारा पानी निकलवाकर स्वयं ने भी उसे गंगाजल की तरह पान कर लिया। मारवाड़ी समाज और खासकर जैन-समाज का रुख उस समय देखने काबिल था। इनका जाति-बहिष्कार किया गया। इनकी माँ को गाली के रूप में अछूत कहा गया। लेकिन इन्होंने परवाह नहीं की।

इसी तरह विधवा-विवाह के आंदोलन में भी आपने तन-मन-धन से सहयोग दिया। इस आंदोलन को लेकर भी समाज में एक तूफान उठ खड़ा हुआ। लोग गुमनाम पत्र लिखने लगे कि अपनी माँ का विवाह कब करेंगे? लेकिन चिरञ्जी-लालजी विचलित नहीं हुए। इतना ही नहीं, ब्र० शीतलप्रसादजी को वर्धा लाने तथा सनातन जैन-समाज तथा विधवाश्रम खोलने में उनको पूरा सहयोग दिया। अगर ब्रह्मचारीजी को बड़जातेजी का सहयोग न मिलता, तो वे शायद ही सफल हो पाते।

राजनैतिक भावनाएँ इनमें बचपन में ही थीं। पं० अर्जुनलालजी सेठी और

महात्मा भगवानदीनजी के संपर्क के कारण राजनैतिक विचार उभरते गये। झंडा-सत्याग्रह में भाग लेने के समय रिश्तेदारों तथा परिचितों ने समझाया कि आप इसमें न कूदें। कारोबार ठप हो जायगा। यहाँ तक हुआ कि जिस दिन ये सत्याग्रह करनेवाले थे, उस दिन सुबह-सुबह ही दो-तीन व्यक्ति आये और कहने लगे कि "आप जेल जा रहे हैं और हमारी रकम आपके यहाँ जमा पड़ी है। जाना हो, तो हमारी रकम देकर जाइये। सरकार-द्रोही के यहाँ हम अपनी रकम जमा नहीं रखना चाहते। हाँ, अगर आप यह वचन दें कि जेल नहीं जायेंगे, तब तो कोई बात नहीं है।" इस पर चिरञ्जीलालजी ने साफ-साफ कह दिया कि "आप लोग अपनी रकम अभी ही ले जाइये! मैं आपकी रकम के खातिर देश का काम नहीं छोड़ सकता। कारोबार भले ही ठप हो जाय, मैं अपना निश्चय नहीं बदल सकता!" और तत्काल मुनीम से कह दिया कि इनकी रकम लौटा दी जाय। यह रकम लगभग ५० हजार रु० थी! उस जमाने में, आज से ४० वर्ष पहले, यह रकम मामूली नहीं थी! एक पल के लिए भी मन में शंका नहीं उठी कि कल मेरा क्या होगा! पहले सेवा, बाद में घर—यही इनका मंत्र रहा है।

चिरञ्जीलालजी पढ़े-लिखे नहीं हैं, लेकिन बहुत अनुभवी हैं। उन्होंने योग्य और अनुभवी लोगों की संगति से ही पाया है। उनका सही शिक्षण संगति के विद्यालय में ही हुआ है। स्व० जमनालालजी बजाज का तो इन पर वरदहस्त था ही। जहाँ भी और जो भी बुद्धिमान् तथा योग्य व्यक्ति दीखा कि उसकी संगति करते हैं, परिचय बढ़ाते हैं और आवश्यकता हुई, तो खर्च की भी व्यवस्था कर देते हैं। एक क्रांतिकारी लेखक और विचारक के साथ मतभेद होते हुए भी इन्होंने उनको अपने पास बुलाया, स्थान दिया और उनका आश्रम स्थापित कराने में पूरी तरह मदद की। मतभेद होते हुए भी आपसी प्रेम में फर्क नहीं पड़ा। वे अपने स्वतंत्र विचारों का प्रचार बराबर करते रहे। विचारों की यह सहिष्णुता और उदारता विरले ही लोगों में पायी जाती है।

अन्तर्जातीय विवाह तो आपने लगभग एक हजार करवाये होंगे। इनको तो स्मरण भी नहीं होगा कि कब, किसका, कहाँ विवाह हुआ और उसमें चिरञ्जी-लालजी की मदद अप्रत्यक्ष रूप से कैसे पहुँच गयी। आज भी इनके थैले में

मातृवत् चिरंजीलालजी

[श्री बाबूलाल डेरिया]

अनेक बार भारत जैन महामंडल के अधिवेशनों में शामिल होने और बहुत बार श्री चिरञ्जीलालजी के साथ रहने के कारण सहज ही अंतर्ध्वनि प्रकट हो गयी कि अरे, यह तो मंडल की माता है, जो निरंतर चलते-फिरते, उठते-बैठते, बोलते-चालते, प्यारे छोटे बेटे की नाईं मंडल को अपनी गोद में लिये कश्मीर से कन्या-कुमारी तक और गुजरात से असम तक इस सेवानिवृत्त अवस्था में भी घूम रहे हैं। इस संसार के यात्री ने जीवन-संग्राम में जूझते हुए रेल को अपना निवास बना लिया है। साठ साल के निकट पहुँचानेवाली अवस्था में प्रत्येक सम्मेलन में हाजिर ! कहीं धार्मिक जलसा हुआ कि वहाँ उपस्थित ! कहीं शादी-विवाह का निमंत्रण किसी मित्र या थोड़े-से भी परिचित के यहाँ का मिला, सोचा कि यहाँ मंडल का कार्य हो सकता है, तो वहाँ हाजिर !

इस प्रकार मन, वचन और कर्म से जीवन के संपूर्ण साधनों के साथ भूख-प्यास, जागरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान को समान रूप से सहता हुआ सदा-सर्वदा जो मंडल को अपने इष्ट की भाँति मानकर उसकी सेवा करता है, उस निष्काम कर्मयोगी साधु-संन्यासी को 'माता चिरंजीलाल' न कहा जाय, तो क्या कहें ? पिता में तो माता के सभी गुणों का संपूर्ण विकास नहीं हो पाता ! लालन-पालन का भार तो माता ही सहन कर सकती है, जो भूखी-प्यासी अवस्था में भी खुद गीले में सोकर प्यारे बेटे को सूखे में सुलाकर, अपने कलेजे का खून (दूध) पिला-पिलाकर उसको पालती है, अपना सारा स्वरूप उसे देकर स्वयं वृद्ध होकर उसे तरुण देख प्रसन्न होती है।

"मेरे तन-मन-यौवन की कुर्बानी
मेरे रक्त बिन्दुओं की यह दुनिया है लासानी
अरे मुझको कहते हैं माता।"

●

भाईजी

[श्री वल्लभदास जाजू]

मैं बचपन से भाईजी को जानता हूँ। आपके छोटे भाई श्री सूरजमलजी मेरे सहपाठी थे और इस नाते मैं कभी-कभी आपके यहाँ आता-जाता रहता था। सूरजमलजी में 'कवि' बसता था। मुझे भी कविता करने की प्रेरणा उन्हींसे मिली।

पूज्य जाजूजी के साथ चिरञ्जीलालजी का काफी संबंध रहा है। वे इनके कारोबार के एक ट्रस्टी भी थे। उनके तथा सेठ जमनालालजी के चरित्र का चिरञ्जीलालजी पर काफी प्रभाव पड़ा है और यही कारण है कि आप राष्ट्रीय आंदोलन, कांग्रेस तथा समाज-सुधार की ओर अग्रसर हुए। सेठ जमनालालजी के कारोबार में प्रवेश करने के पूर्व आपका कपड़े का बड़ा कारोबार था। वह भी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के कारण ठप हो गया। सेठजी के यहाँ काम पर लगने के बाद सेठजी ने आपको बड़े-बड़े कार्य सौंपे, विश्वास किया और ये भी पूरे आत्म-विश्वास के साथ उन कामों में जुट गये। सब कामों को आपने व्यावहारिक कुशलता से और मनुष्य के मनोविज्ञान से निपटाया। एक बार जिस कार्य को हाथ में ले लेते हैं, उसे पूरा किये बिना इन्हें बिलकुल चैन नहीं पड़ती।

हृदय तो इनका इतना कोमल है कि कुसुम की मृदुता भी लजा जाय। वज्रादपि कठोरता को वहाँ रंचमात्र स्थान नहीं है। किसीका भी दुख-दर्द सुनकर या देखकर आँखें टप-टप बह पड़ती हैं। हाथ के नीचे काम करनेवाले साथियों को निरन्तर बढ़ावा देना और उनकी बड़ी-से-बड़ी गलतियों को क्षमा कर देना इनका सहज स्वभाव है। कोई अपनी गलती कबूलभर कर ले, इतना ही इनके लिए काफी है। ऐसे व्यक्ति का मन निष्कपट तो होता ही है। ये गुस्सा हो सकते हैं, नाराज हो सकते हैं, लेकिन द्वेष नहीं कर सकते। अपने गुस्से और नाराजी को ये स्वयं ही आँसू बहाकर हलका कर लेते हैं!

किसीका भी घर बसाने में इन्हें इतना आनन्द आता है कि किसी लोभी को लाख रुपये कमाकर भी क्या होगा ! घर बसाने से सम्बद्ध अन्य जवाबदारियाँ भी ये निभाने में पीछे नहीं रहते। अनेक कटु-अनुभवों के बावजूद भी इनकी सहज मानवता में अकूत श्रद्धा है।

किसी भी व्यक्ति के चरित्र की पहचान बड़ी और महान् दीखनेवाली बातों से नहीं हुआ करती। वृत्ति और चरित्र तो छोटी-छोटी बातों में ही व्यक्त हो जाता है और इसके लिए बहुत गहरे भी जाने की जरूरत नहीं होती। चिरंजी-लालजी ने कौन-से बड़े-बड़े कार्य किये हैं या कर सकते हैं—इसके ब्योरे में जाने की हमें जरूरत नहीं है। उनकी रात-दिन की छोटी-छोटी बातें ही उनका दर्शन हमारे सामने रख देती हैं। किसीको भी वे अपने लिए कष्ट या परेशानी में नहीं डालेंगे। किसीके एक पैसे का भी बोझ अपने सिर पर नहीं रखना चाहते और अगर ऐसा इन्हें प्रतीत हुआ कि अमुक बोझ सिर पर चढ़ गया है, तो बिना कुछ जतलाये वह इस तरह चुका देंगे कि सामनेवाले को पता भी नहीं चल सकता। उस दिन की बात है कि बम्बई में किसीके यहाँ गये और टोपी बदल गयी। खादी की ५० न० पै० की टोपी ! कोई बड़ी बात नहीं थी, लेकिन इनको कल नहीं पड़ी। सब परिचितों के यहाँ फोन किया, टैक्सी की और जब एक ने इनसे टोपी रख ली, तब जाकर इनको संतोष हुआ। इस चक्कर में इनके तीन-चार रुपये खर्च हो गये ! यही वह कसौटी है, जिस पर किसीका जीवन परखा जा सकता है। और, हम कह सकते हैं कि इस कसौटी पर चिरंजी-लालजी बेदाग, सौ टंच सोना हैं !

पूज्य जाजूजी कहा करते थे कि 'पत्रों का जवाब न देना गुनाह है।' इस मंत्र का ये पूरी तरह पालन करते हैं। किसीका भी पत्र आ जाय, उसका उत्तर अवश्य दे देंगे—चाहे दो ही पंक्ति में दें और वह इनकी लिखावट को समझे या न समझे ! रोज की डाक रोज निपटाना इनकी आदत है। इस सम्बन्ध में हम लोग रात-दिन सैकड़ों प्रकार के 'कैरेक्टर' देखते हैं। लेकिन इनका तो एक ही कैरेक्टर है कि बिना पॉलिसी या शब्द-छल के मन की बात 'दो टूक' कह दी जाय।

आँखों से कम दीखने पर भी स्वाध्याय बराबर चलता है। जो मिल गया, उसीसे धर्म के दो शब्द सुन लेते हैं। शरीर से इतने मजबूर हो गये हैं कि संगी-साथियों को तरस आता है, लेकिन मानसिक उत्साह इनमें इतना है कि शरीर भी उसके आगे हार मान जाता है ! हमें तो अचरज ही होता है कि सब साधन सुलभ होते हुए भी आप हमेशा तीसरे दर्जे में ही प्रवास करते हैं और निरन्तर प्रवास करते ही रहते हैं ! रहन-सहन तो इतना सादगीमय है कि कभी-कभी तो छिद्रान्वेषी लोग टेढ़ी टोपी और खुले बटन देखकर यहाँ तक कह बैठते हैं कि यह चला नंबरी घाघ ! असल में न ये घाघ हैं और न भोले ! इनमें व्यवहार और परमार्थ, सादगी और चुस्ती, भोलापन और कुशलता, संकोच और दृढ़ता सबका समन्वय है।

हाँ, एक बात इनमें विशेष है और वह गुण है या अवगुण, इसका निर्णय करना कठिन है। वह है इनकी जल्दबाजी ! हर बात के दोनों पहलू होते हैं। जल्दबाजी से इनको बरदाश्त भी करना पड़ा है, पर अगर किसी और का कुछ नुकसान हो गया, तो फिर इन्हें चैन नहीं पड़ सकती। इसलिए हम तो इसे गुण ही कह सकते हैं।

मेरे लिए तो चिरञ्जीलालजी प्रेरणा-स्रोत ही हैं। मेरी कामना है कि वे शतायु हों और हमारा मार्गदर्शन करते रहें।

दया का देवता

[तनसुखराय जैन]

सेठ चिरञ्जीलालजी को यदि 'दया का देवता' कहा जाय, तो इनके लिए कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। मेरा-इनका सम्पर्क सन् १६३५ से है। जब कभी इनसे मुलाकात हुई, दूसरों का दर्द दिल में लिये पाये गये। पचासों विधवाओं और अपने पतियों से सतायी हुई स्त्रियों के घर इनके द्वारा बसे। सैकड़ों कन्याओं के विवाह-सम्बन्ध कराकर आर्थिक सहायता भी इन्होंने दी। दिल में इतना रहम है कि दूसरों का दुःख सुनकर इनका दिल उमड़ आता है। बिना कहे उसके दुःख में शामिल होते हैं और यथाशक्ति सहायता करते हैं। एक नहीं, सैकड़ों उदाहरण मेरे सामने हैं।

जिस समय इनका भारी नुकसान हुआ था, तब जिनका देना था, हाथ जोड़-कर दिया और जिनसे लेना था, उनके एक दफा 'ना' कर देने पर उन्हें फारखती लिखकर दे आये, ताकि उनकी तरफ से लेने का खयाल ही छोड़ दिया जाय और दिल पर बोझ न रहे। आपकी रहन-सहन बहुत सादी और विचार बहुत ऊँचे हैं। इनमें चौबीस घण्टे समाज के लिए लगन है। इन पर समाज जितना गौरव करे, कम है।